वैदिक दर्शन

भारती
भण्डार

वैदिक-दर्शन

[श्री हरजीमल डालमियाँ पुरस्कार से पुरस्कृत]

लेखक

डॉ० फतहसिंह

एम. ए., बी. टी., डी. लिट्,

ग्रंथ-संख्या--२२९
प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भंडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : सं० २०१९
मूल्य : ५.००

मुद्रक :
बि. प्र. ठाकुर
लीडर प्रेस
इलाहाबाद

दो शब्द

माँ की मीठी लोरियों से, वैष्णव पिता के पवित्र पदों से, साधुसंतों के संभाषणों से और सबसे अधिक रामायण के पारायणों से मेरे बचपन ही में वेदों की लोकोत्तर महिमा के प्रति मेरी जो श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी, वही आगे चलकर आर्यसमाज एवं दयानन्द-साहित्य के संपर्क से एक आकुल जिज्ञासा के रूप में बदल गई। परमेश्वर की महती कृपा से, बाल्यकाल की इस जिज्ञासा पूर्ण होने का अवसर विश्वविद्यालय में मिला और मैंने, एम० ए० एवं डी० लिट् के लिए वैदिक साहित्य को ही चुना ; इसके प्रसंग में मुझे प्रायः देशी-विदेशी सभी विद्वानों की वेदविषयक रचनाएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में देखने को मिलीं, परन्तु इनमें से अधिकांश को पढ़कर तो मैं यही समझा कि वेद तो फेंक देने योग्य है, उनमें एक आदिम एवं अविकसित सभ्यता की अभिव्यक्ति है। इससे मेरे हृदय को बहुत बड़ा आघात पहुँचा ; मैं बार-बार सोचता था कि, "क्या सारे ऋषि, मुनि और आचार्य भ्रम ही में रहे ? क्या वेदों की परंपरागत महिमा कोरी कल्पना है ?"

सौभाग्य से मेरे हृदय को शान्ति और धैर्य प्रदान करने वाली भी कुछ आधुनिक कृतियाँ थीं। स्व० दयानन्द सरस्वती, श्री अरविन्दघोष एवं श्री आनन्दकुमार स्वामी की रचनाओं से, मैं बहुत प्रभावित हुआ और मैंने सोचा कि वेदों को समझने की 'आध्यात्मिक' दृष्टि भी हो सकती है। इसी बीच में परमपूज्य महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के संपर्क से मुझे आगमों एवं पुराणों के पढ़ने में भी रुचि उत्पन्न हुई, जिसके फलस्वरूप मुझे वेद का अर्थ कुछ अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा और मेरी धारणा बनने लगी कि वेदों को आध्यात्मिक दृष्टिकोण के बिना समझा ही नहीं जा सकता।

इसी अवसर पर श्रीयुत बाबू संपूर्णानन्द जी का 'चिद्विलास' प्रकाशित हुआ। उसमें यद्यपि वेद के विषय में बहुत नहीं लिखा गया था, परन्तु उससे मुझे जो प्रेरणा मिली वह अमूल्य है। उसी से प्रेरित होकर मैंने वेदाध्ययन अधिक मनोयोग के साथ प्रारम्भ किया और अंत में मैं इस निश्चय पर पहुँचा कि "वेदों में ऋषियों की समाधि में प्राप्त अनुभूति की अभिव्यक्ति है।" मैंने सोचा कि इस विषय पर मैं अपने विचार लिपि बद्ध कर डालूँ और दो एक विद्वानों को दिखलाऊँ, उसको प्रकाशित करने का विचार उस समय तक न था।

परन्तु, जब मैंने अपने विचार लिख डाले और पुस्तक रूप म महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी के सामने रक्खे, तो उन्होंने मुझे न केवल प्रोत्साहित किया, अपितु पुस्तक प्रकाशित कराने का भी आदेश दिया। फिर भी कई कारणों से पुस्तक छपने की व्यवस्था न हो पाई और चार वर्ष ऐसे ही निकल गये। इस वर्ष श्री हरजीमल डालमिया पुरस्कार समिति दिल्ली ने इस पुस्तक की पांडुलिपि पर पुरस्कार प्रदान किया और राजपूताना विश्वविद्यालय ने इसे अपनी ओर से प्रकाशित होने योग्य समझकर आर्थिक सहायता प्रदान की। इस सहायता के बिना इस पुस्तक का इस समय प्रकाशित होना असंभव था, अतः मैं उक्त दोनों संस्थाओं को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पाण्डुलिपि की प्रतिलिपियाँ करने, प्रूफ संशोधन करने तथा शब्दानुक्रमणिका तैयार करने में मेरे कई विद्यार्थियों ने जो सहायता दी है उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ; विशेषकर श्री लक्ष्मी-नारायण बी० ए०, श्री शिवकुमार गौड़ बी०ए०, तथा श्री चतुर्भुज शर्मा बी० ए० की सेवा और श्रम को मैं कभी न भूलूँगा। मेरे मित्र श्री परमानन्द जी चोयल ने इस पुस्तक के चित्र बनाने में जो सहयोग दिया है, उसके लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

यह पुस्तक वैदिक-दर्शन को समझने का एक बाल-प्रयत्न मात्र है; इससे यदि वेदों की कुछ मान-प्रतिष्ठा बढ़ सकी और विद्यार्थियों और अध्यापकों में वेदाध्ययन की रुचि का तनिक भी प्रसार तथा परिष्कार हो सका, तो लेखक अपने को धन्य मानेगा।

शरद पूर्णिमा, २००६ फतहसिंह

चिद्विलासकार

श्रद्धेय श्री संपूर्णानन्द जी

को

सादर और सस्नेह

समर्पित

विषय-सूची

पिण्डाण्ड

१—अयोध्यापुरी

२—शक्ति

३—शक्ति और शक्तिमान्

४—पुरुष

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड

१—मूल सिद्धान्त

२—वैदिक-देवता—जन्म, जनक और जननी

३—अदिति, दिति और उनके पुत्र

इदम् और अहम्

१—त्रिदेव और उनके शत्रु-मित्र

४—कल्प-प्रक्रिया

५—ऋत-प्रक्रिया

वैदिक-दर्शन

पिण्डाण्ड

१—अयोध्यापुरी

(क) माटी का पुतला—मानव-शरीर कितना विचित्र है ! यों तो यह निरा पिण्ड है ; केवल 'माटी केरा पूतरा' है। परन्तु, ऋषिनेत्रों से देखने पर उसका चित्र ही बदल जाता है और उसकी दुनिया ही निराली हो जाती है। तब वह सीधी-सादी वस्तु नहीं रह जाता तथा 'पाँच तत्त्व का पूतला मानुष धरिआ नाम' कह कर उससे छुट्टी नहीं ली जा सकती। तब तो वह अत्यन्त पेंचीदा यंत्र दिखाई पड़ता है, जिसके विषय में कहा है कि[१]:—

> **पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम् ।**
> **तत् सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥**

परन्तु, वैदिक ऋषि 'आहारमय शरीर' का यह वर्णन करके ही नहीं ठहर जाते। उनको उसके रोम-रोम में रहस्य और कण-कण में अचंभा दीखता है। अथर्ववेद १०।२ का ऋषि एड़ी से लेकर शिर तक के अंगों का निरीक्षण करता है और उनकी अद्भुत रचना को देख कर मुग्ध हो जाता है। बार-बार वह उसी प्रश्न को दुहराता है—"अमुक अंग किसने बनाया ? इसको बनानेवाला कौन-सा देव है ?"[२] उसकी दृष्टि शरीर के आठ केन्द्र-स्थानों पर जाती है; वह शीर्ष-स्थान के सात[३] तथा मध्य भाग के दो[४] छिद्रों को देखता है और

१—ग. उ. १, १ । २—अ. वे. १०, २, १-२५ ।
३—वही, १०, २, १ । ४—वही १०, २, ६ ।

उनमें रहने वाली दिव्य शक्तियों पर विचार करता है, तो उसे यह शरीर 'आठ चक्रों वाली और नौ द्वारों वाली, देवों की अयोध्यापुरी'[1] मालूम पड़ता है। उक्त नौ द्वारों में नाभि और ब्रह्मरंध्र को सम्मिलित कर लेने से ग्यारह द्वार हो जाते हैं। अतः कठ उपनिषद्[2] में इस शरीर को ग्यारह द्वार का पुर कहा गया है।

देव-कोश—अयोध्यापुरी जिन देवों की है, उनका उसके भीतर एक निश्चित क्षेत्र है। हमारे शरीर में मूर्धातत्त्व (ज्ञान-तत्त्व) और हृदय-तत्त्व (संवेद-तत्त्व) परस्पर मिले हुए सर्वत्र व्याप्त हैं। इन दोनों को पृथक करना असंभव है। इसी से जब हमारा कोई अंग जल जाता है, तो जहाँ हमें यह ज्ञान होता है कि 'अमुक अंग जल गया' वहीं हमें उससे होने वाले दुःख का संवेद भी होता है। ज्ञान और संवेद के, दूध तथा जल के समान मिले हुए इस विस्तार को ही 'देव-कोश' कहा गया है—"अथर्वा ने जिस मूर्धा और हृदय को एक साथ मिलाकर सी दिया है और जिसको मस्तिष्क से भी ऊपर रहने वाला पवमान शिर पर से प्रेरित करता है वह अथर्वा का शिर देव-कोश है।"[3] यह देव-कोश हमारे शरीर के लिये बहुमूल्य है ; यह अयोध्यापुरी की 'जान' है। अतः इसकी रक्षा भी बड़े यत्न से की गई है। इसके ऊपर सबसे पहले तो ज्ञान-तन्तुओं के रूप में मन का पहरा रहता है। उसके बाद शरीर-व्यापी व्यान, समान, उदान आदि के रूप में प्राण का तथा सबसे ऊपर अस्थि, मज्जा, त्वक् आदि के रूप में आहार या 'अन्न' का पहरा रहता है। इसलिये वेद[4] का वचन है:—

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः,
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः

कभी-कभी अन्न, प्राण और मन को, देवकोश के ऊपर लिपटी हुई तीन

१—अष्ट-चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या (वही १०, २, ३१ तु. कु. श्वे. उ. ३,१८)

२—पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः कठ. उ. २,३,१ ।

३—मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ,
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः (वही १०,२,२६-२७)

४—अथ०, १०, २, २७ ।

चित्र नं० १
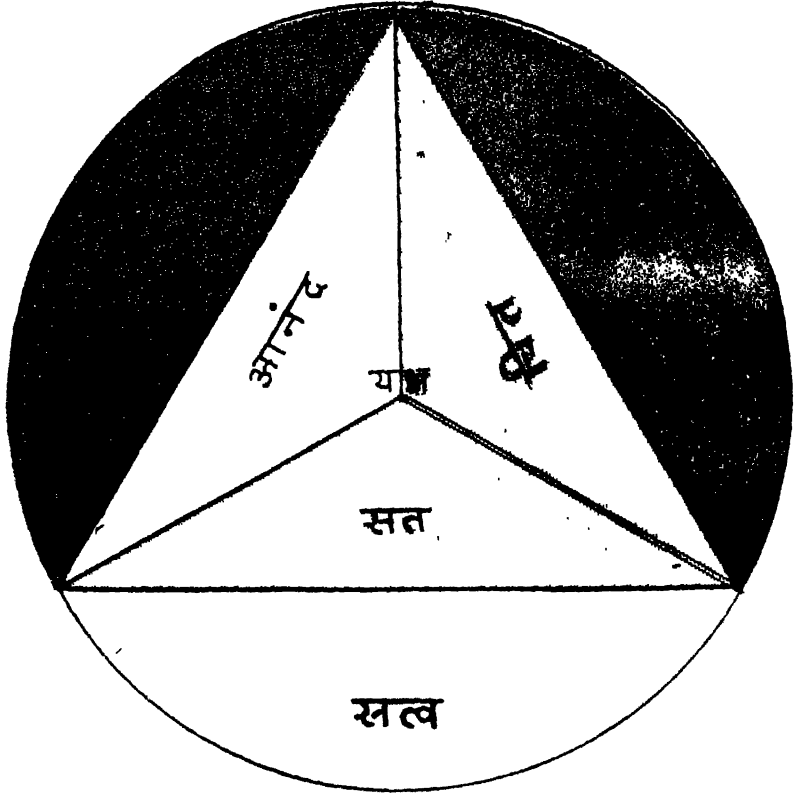
हिरण्ययकोश

रस्सियों के रूप में कल्पना करते हुये उसे "तीन रस्सियों (गुणों)[१] से मढ़ा हुआ नवद्वारों वाला घट (पुण्डरीक)"[२] कहा जाता है।

हिरण्ययकोश

देवकोश से भी अधिक सुन्दर और दिव्य भाग अयोध्यापुरी के भीतर विद्यमान है। यह ब्रह्मपुरी है, और इसी पुर में रहने के कारण ब्रह्म 'पुरुष'[३] कहलाता है। यह पुरी देवकोश के आधारभूत सत्, चित् और आनन्द तथा मन, प्राण और अन्न के मूल तत्व सत्व-रज-तम से निर्मित[४] है। अतः इसे तीन आरों और तीन पुट्टियों वाला हिरण्यकोश तथा ज्योतिर्मण्डित स्वर्ग कहा गया है, जिसके भीतर देह का स्वामी यक्ष[५] विराजमान है। हिरण्यकोश का इस प्रकार जो चित्र बनता है वह चित्र नं० १ में देखिये।

(ख) **पञ्चकोश**—इस प्रकार हमारी अयोध्यापुरी के भीतर पाँच कोश हो जाते हैं—(१) हिरर्ण्यय (२) देव (३) मन (४) प्राण और (५) अन्न। उपनिषदों में इन पाँचों के नाम क्रमशः आनन्दमयकोश, विज्ञानमयकोश, मनोमय-कोश, प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोश हैं। अयोध्यापुरी का वर्णन तब तक पूरा नहीं माना जा सकता जब तक इन कोशों का पृथक-पृथक विस्तार के साथ वर्णन न हो जाये। अतः यहाँ हर एक का वर्णन दिया जाता है:—

(१) **अन्नमयकोश**—आधुनिक शरीर-विज्ञान केवल इसी का अध्ययन करता है। गर्भोपनिपद्[६] में इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया गया है—

१—यहाँ गुण शब्द के प्रयोग से सत्त्व, रज, और तम की ओर भी संकेत है, क्योंकि मन, प्राण तथा अन्न में क्रमशः उक्त तीन में से एक का प्राधान्य रहता है (दे० आगे 'पांक्त पुरुष')

२—पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदोविदुः (अथ० वे० १०, ८, ४३)

३—पुरं यो ब्रह्मणः वेद यस्याः पुरुष उच्यते (वही १०, २, २८)

४—विस्तृत विवरण के लिये दे० आगे 'पांक्त पुरुष'।

५—तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।
तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते,
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः
(अथ० वे० १०, २, ३१-३२)

६—१, १।

पृथिवी, आपः, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों तत्त्वों का बना हुआ शरीर है। पृथिवी क्या है ? आपः क्या है ? तेज क्या है ? वायु क्या है ? आकाश क्या है ? इस पञ्चात्मक शरीर में, जो कठिन है, वह पृथिवी है ; जो द्रव है, वह आपः है ; जो उष्ण है, वह तेज है, जो संचरण करता है, वह वायु है ; जो सुषिर है, वह आकाश कहलाता है। इनमें से पृथिवी धारण करने के लिये, आपः पिण्डीकरण के लिये, तेज प्रकाशन के लिये, वायु व्यूहन के लिये और आकाश अवकाश प्रदान करने के लिये है। इनसे पृथक श्रोत्र शब्द, त्वक् स्पर्श, चक्षु रूप, जिह्वा रस, और नासिका गंध ग्रहण करती है तथा उपस्थ से आनन्द-प्राप्ति और अपान से उत्सर्ग तथा वाक् से बोलना होता है। इसमें मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय रसों को ग्रहण किया जाता है ; षडज्, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद स्वर उत्पन्न होते हैं। शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र पीत, कपिल और पाण्डुर (ये छः रंग हैं) .... छः प्रकार का रस होता है : रस से शोणित, शोणित से मांस, मांस से मेद, मेद से स्नायुएँ, स्नायुओं से अस्थियाँ, अस्थियों से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र-शोणित से गर्भ उत्पन्न होता है... हृदय में अग्नि आती है और अग्नि से पित्त, पित्त के स्थान में वायु और वायु के पश्चात् कफ होता है।

यह कोश अन्न के रस से बनता है, इसीलिए इसे अन्नरसमय[1] या अन्नमय कोश कहते हैं। इसी को ऊपर 'आहारमय' शरीर कहा गया है। इसके ऊपर दिये हुए वर्णन से इसमें तीन शक्तियाँ काम करती हुई मिलेंगी—(१) संवेद-शक्ति, जो उपस्थ आदि द्वारा आस्वादन में दिखाई पड़ती है (२) ज्ञानशक्ति, जो रूप, गंध आदि के ग्रहण में काम करती है और (३) क्रियाशक्ति, जो शरीर की प्रत्येक क्रिया में व्यक्त होती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी मानव-आचरण में यही तीन तत्त्व मानता है, जिनको वह क्रमशः Affection Cognition तथा Connation कहता है। इन शक्तियों के विषय में विस्तार-पूर्वक आगे लिखा जायेगा, यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अन्नमय कोश में क्रिया प्रधान है।

(२) **प्राणमय कोश**—अन्नमयकोश के कण-कण में प्राण अथवा वायु समाया हुआ है। नासिका द्वारा हम जो वायु भीतर ले जाते हैं, वह पहले शीर्षस्थानीय 'हृद', में जाती है ; इसका नाम प्राण[2] है। इस स्थान से आगे कण्ठ प्रदेश

१—अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः। तै० उ० २.१।

२—हृदि प्राणोऽपानः समानो नाभि-संस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थः व्यानः सर्वशरीरगः। तु. क. अ. वे.।

में जाकर जो वायु नली द्वारा फेफड़ों तक विचरण करती है, उसे 'उदान' कहते हैं। यही उदान जब फेफड़ों में शोधे हुए रक्त में मिलकर सारे शरीर में विविध रूप से भ्रमण करती है, तो 'व्यान' कहलाती है। शरीर के अधोभाग में रह कर मूत्र, पुरीष आदि को बाहर निकालने वाले वायु का नाम 'अपान' है। और, नासिका द्वारा बाहर निकलने वाले वायु को भी 'अपान' कहते हैं, क्योंकि 'अपान' का शाब्दिक अर्थ बाहर या नीचे को साँस लेना है। नाभि के आस-पास शरीर के मध्य भाग में रहकर अँतड़ियों आदि की क्रिया में काम आने वाला वायु 'समान' कहलाता है। इन्हीं सब प्राणों के जाल को प्राणमय कोश कहा जाता है। इसी की शक्ति पाकर 'अन्नमय कोश' के सारे व्यापार चलते हैं। स्थायी रूप से मृत्यु के समय तथा अस्थायी रूप से लम्बी समाधि में जब यह हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाती है, तो अन्नमय कोश की सारी क्रियायें बन्द हो जाती हैं —मूत्र-पुरीष-त्याग तथा नख या बालों का उगना तक समाप्त हो जाता है। प्राणमय कोश में भी क्रिया प्रधान है। यथार्थ में अन्नकोश में होने वाली क्रिया इसी के बल पर चलती है। साधारणतया देखा जाता है कि हमारी शारीरिक क्रिया शरीर की गर्मी या अग्नि पर निर्भर है। जब शरीर में तापमान गिरने लगता है, तो उसकी विविध क्रियाओं में भी शैथिल्य आने लगता है। यहाँ तक कि साधारण बोलचाल में "ठंडा होना" का अर्थ ही 'मृत्यु को प्राप्त होना' है। गर्मी जीवन का चिह्न है और अन्नमय कोश की यह गर्मी साँस द्वारा आई हुई 'प्राणवायु' (Oxygon) के द्वारा होती है। इसीलिये श्रुति में प्राण को भी अग्नि कहा गया है।[1]

(३) **मनोमय कोश**—प्राणमय कोश के कोने-कोने में मन की शक्ति व्याप्त है। मन शब्द 'मन्' धातु से निकला है,[2] जिसका अर्थ प्रायः 'सोचना-विचारना' किया जाता है। परन्तु यथार्थ में मन के अन्तर्गत मूर्धातत्व (ज्ञान शक्ति) और हृदय-तत्त्व (संवेदन शक्ति) दोनों आते हैं, इसीलिए कहा है कि[3] काम, संकल्प

१—श. ब्रा. २, २, २.१५; ९, ५, १,८
जै. उ. ब्रा. ४, २२,११; ऐ. ब्रा. २:३९,

२—मन् अवबोधने, ज्ञाने, स्तंभे पा. धा. पा. ८, ९; ४, ६७; १०, १६९.
के. उ. ५; प्र. उ. ४, ८ तु. क. बृ. उप. ४, ३, २८, छा. ३०, ६, ३, ५

३—कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरह्री धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव
श. ब्रा. १४,४,३,९ ।

विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब मन ही हैं। इसके अतिरिक्त क्रिया-शक्ति और संचालक भी मन है, क्योंकि सोने की अवस्था में मन से शक्ति न पा सकने के कारण पंखा चलाने वाला हाथ रुक जाता है और पंखा हाथ से छूट जाता है। अतः संवेदन-ज्ञान-क्रियात्मक जो भी व्यापार अन्नमय कोश में प्राण की प्रेरणा से होता है, उसके लिये 'आदेश'[1] इसी मनोमय कोश से ही मिलता है। दूसरे शब्दों में, अन्नमय कोश तथा प्राणमय कोश के व्यापार को चलाना तथा साभिप्राय बनाना मनोमय कोश का ही काम है। परन्तु फिर भी इस कोश में ज्ञान-शक्ति ही की प्रधानता है।

(४) **विज्ञानमय (देव) कोश**—मनोमय कोश जिस शक्ति से संचालित होता है, वह विज्ञानमय कोश (देवकोश) से आती है। जिस 'आदेश' के द्वारा वह प्राणमय कोश को प्रेरित करता है, उसका उद्गम[2] यही है, जैसा कि 'देवकोश' के वर्णन में ऊपर कहा जा चुका है। हमारे 'मनोमय' में होने वाले जो व्यापार हैं, वे केवल वर्तमान से सम्बन्ध रखते हैं और जहाँ कहीं उसको तत्सम्बन्धी भूत-कालिक ज्ञान की आवश्यकता होती है; वहीं उसे 'विज्ञानमय कोश' की शरण जाना पड़ता है, क्योंकि वह मनोमय-कोश में होने वाले प्रत्येक अनुभव को भविष्य के लिये सुरक्षित रख छोड़ता है। इसीलिये इसे धृति, स्मृति[3] आदि कहते हैं। इसका सम्बन्ध भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों से होने के कारण इसका ज्ञान विधिवत्, संश्लिष्ट, उत्कृष्ट तथा पूर्ण होता है। इसी कारण इसके नाम विज्ञान, संज्ञान, प्रज्ञान, आज्ञान[4] आदि हैं। ज्ञानतत्व की सर्वोत्कृष्ट शक्ति होने के कारण इसे मेधा, दृष्टि, मति, मनीषा[5] आदि कहते हैं; संवेदन-शक्ति की सर्व-श्रेष्ठ शक्ति होने से यह जूति[6], काम आदि कहलाता है, और क्रियाशक्ति का अंतिम संचालक होने से इसको क्रतु, असु, वश[7] आदि भी कहते हैं। इस कोश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ मन और ज्ञान, संवेद तथा क्रिया-तत्त्व के साथ एकीभूत[8] हो जाता है। यही एकीभूत मनस्तत्व प्रज्ञानेत्र है जो चर-अचर सभी में व्याप्त कहा जाता है।

इसी कोश के अन्तर्गत आधुनिक मनोविज्ञान का परोक्षमन

१—दे. 'पांक्त पुरुष' आगे, तु. क. तै. ३,२१। २—दे. ऊपर 'देवकोश'।
३—ए. उ. ३,२। ४—वही। ५—वही। ६—वही।
७—वही। ८—वही।

चित्र नं० २
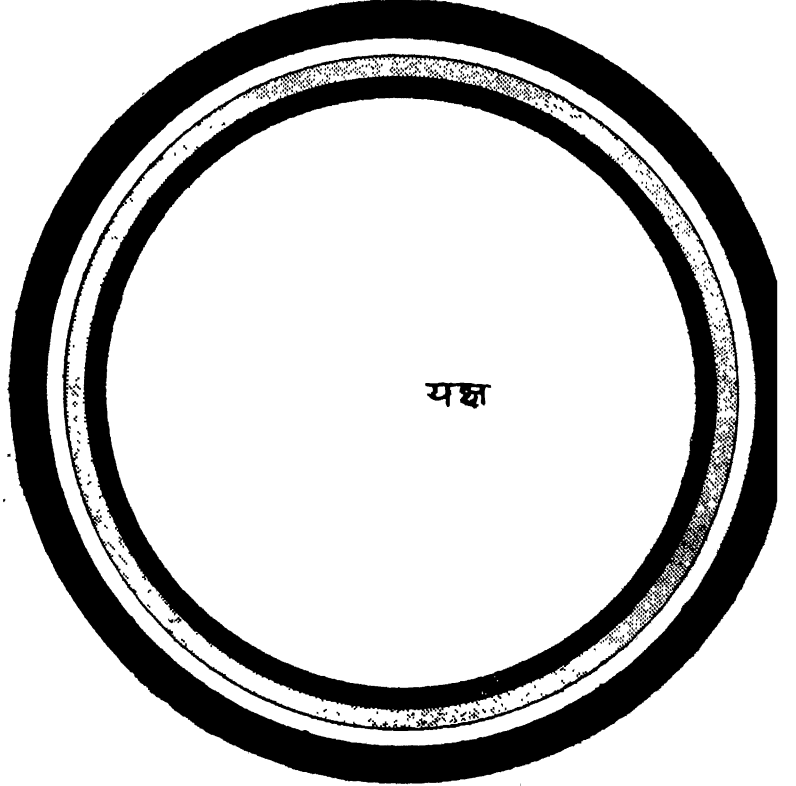
पंचकोश

(unconscious mind) आ जाता है। इसमें संवेदन शक्ति की प्रधानता रहती है। यह, मन, प्राण तथा अन्न के कोशों का बीज है।

(५) **आनन्दमय (हिण्यय) कोश**—मन, प्राण और अन्न को संचालित करने वाले उक्त विज्ञानमय कोश की शक्ति भी अपनी नहीं, अपितु, जैसा 'हिरण्यय कोश' के वर्णन में कहा जा चुका है, उसको वह शक्ति 'आनन्दमय कोश' से मिलती है। इस कोश में ब्रह्म है और यह कोश विज्ञानमय कोश के प्रत्येक परमाणु में समाता हुआ है। इसका चित्र ऊपर 'हिरण्यय कोश' के प्रसंग में दिया जा चुका है।

पाँचों कोशों का स्थिति-सम्बन्ध चित्र नं० २ में देखिये, जिसमें बाहर से भीतर की ओर जाते हुए अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द को क्रमशः काले, नीले, पीले, नारंगी और लाल रंग द्वारा दिखाया गया है।

(ग) **शरीरत्रय तथा तीन अवस्थाएँ**—उक्त कोशों को तीन शरीरों में विभाजित किया जा सकता है। अन्नमय पूर्ण स्थूल होने से और प्राणमय अल्प-स्थूल होने से दोनों 'स्थूलशरीर' के अन्तर्गत हैं। मनोमय कोश में स्थूल शरीर की सभी इन्द्रियाँ 'सूक्ष्म रूप' में रहती हैं। अतः इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं; और इन दोनों शरीरों[1] का कारण या बीज होने से विज्ञानमय-कोश को 'कारण शरीर' कहा जाता है।

इन शरीरों से सम्बन्ध रखनेवाली तीन अवस्थाएँ हैं। जागरितावस्था क्रिया-प्रधान होने से स्थूल-शरीर से सम्बन्ध रखती है। इसमें हमारी प्रज्ञा बहिर्मुखी होकर स्थूल जगत का भोग करती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ग्रहण करने वाली इंद्रियों के अतिरिक्त वाणी तथा प्राण को लेकर कुल सात अंगों में हमारी शक्ति विभक्त होती है, जिसका उपयोग मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार शीर्षस्थानीय सात छिद्र, दो हाथ, दो पाँव, गुदा, उपस्थ, नाभि तथा त्वक् कुल उन्नीस प्रकार से होता है। अतः इसी स्थूल रूप का वर्णन करते हुये माण्डूक्योपनिषद[2] में लिखा है :—

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् वैश्वानरः प्रथम पादः।

स्वप्नावस्था में हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, परन्तु फिर भी जाग-

---

१—ऐ. उ. ३,२-३ २—मा. उ. ३।

रितावस्था की भाँति हमारी शक्ति सात भागों में विभक्त होकर उक्त उन्नीस प्रकार से उपयुक्त होती रहती है। अन्तर केवल इतना होता है कि अब इसका उपयोग स्थूल भोगों के लिये नहीं होता, अपितु इन्हीं स्थूल भोगों के सूक्ष्म रूपों के लिये होता है। इसीलिये स्वप्नावस्था में शरीर के निश्चेष्ट रहते हुए भी, हम नाना कर्म करते तथा नाना भोग भोगते हैं। अतः इसके विषय में लिखा है:—

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग : एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तिभुक्तैजसो द्वितीय पादः ।[1]

अतएव इस अवस्था का सम्बन्ध मनोमय कोश और सूक्ष्म-शरीर से है। इसी से जागरितावस्था में हम जो स्वप्न देखते हैं, उसे संस्कृत में मनोराज्य कहते हैं।

सुषुप्तावस्था का सम्बन्ध कारण-शरीर (विज्ञानमय कोश) से है। जब हम प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो हमारे दुःख-सुख, आशा-निराशा सब केवल एक आनन्द में परिणत हो जाते हैं। उसी प्रकार इस अवस्था में हमारी प्रज्ञा जो अन्य दो अवस्थाओं में नानारूपमयी होकर रहती है, वह यहाँ एकीभूत होकर केवल चेतसा [2]मार्ग में ही प्रयुक्त होती है :—

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयपादः ।[3]

उक्त तीन शरीरों और तीन अवस्थाओं से परे एक और चौथी[4] अवस्था भी है। इसी को कहीं-कहीं तुरीयावस्था कहा गया है। इसका सम्बन्ध 'आनन्दमय' या हिरण्यय कोश से है। यह शुद्ध अद्वैत आत्मा की अवस्था है। जो प्रज्ञा या शक्ति अन्य तीन अवस्थाओं में काम करती रही थी, वह यहाँ आत्मा में ही लीन हो जाती है। इस अवस्था का वर्णन करना असंभव है। अतः इसके विषय में लिखा है:—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाऽप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा विज्ञेयः ।[5]

इन तीनों शरीरों और चारों अवस्थाओं को चित्र नं० ३ में देखिये।

१—वही ४।

२—चेतस् वह शक्ति है जिसके द्वारा अपनी सत्ता का ज्ञान-भाव हो सके। दे. 'ज्ञान-शक्ति' आगे। ३—वही, ५। ४—वही, ७। ५—मा. उ. ८-९

चित्र नं० ३

तुरीयावस्था
कारण शरीर
परा शक्ति
अहंकार
सुषुप्त्यवस्था
चित्त
मन
बुद्धि
क्रिया
सूक्ष्म शरीर
ज्ञान
इच्छा
स्वप्नावस्था
चक्षु
चक्षु
श्रोत्र
श्रोत्र
स्थूल शरीर
घ्राण
प्राण
वाक
रसना
जागरितावस्था
स्पर्श त्वक
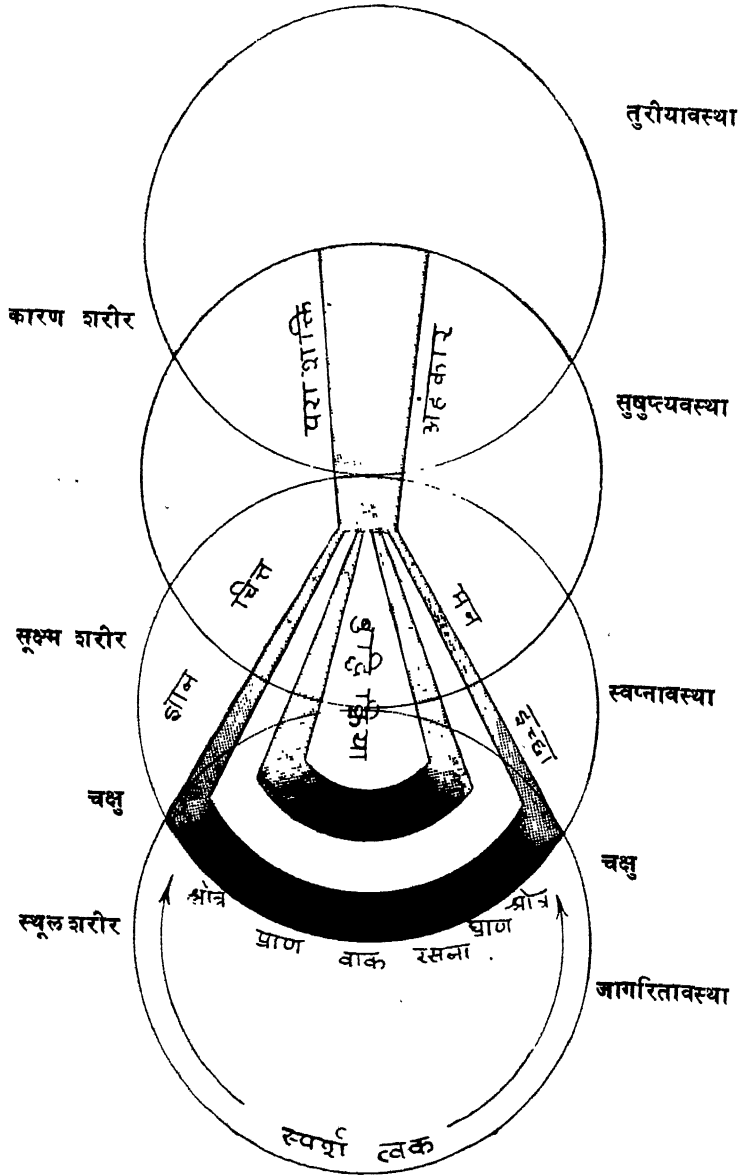
२--शक्ति

(क) क्रिया-शक्ति--ऊपर पंचकोशों तथा तीन शरीरों के प्रसंग में तीन शक्तियों का उल्लेख किया जा चुका है। इन शक्तियों को हमने संवेदन-शक्ति, ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति कहा है। परन्तु आगम-ग्रन्थों की परम्परा में इनके नाम क्रमशः इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति हैं। यहाँ पर इन शक्तियों के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार कर लेना आवश्यक है।

इन शक्तियों में सबसे अधिक स्पष्ट-प्रत्यक्ष क्रिया-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा श्वसन, पाचन, रक्त-संचरण, आदान, आवागमन आदि अनेक क्रियायें हमारे स्थूल शरीर में प्रतिक्षण होती रहती हैं। इन क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है:--

(१) पराधीन क्रियायें, जैसे रक्त-संचरण, श्वसन आदि जो स्वतः होती हुई दिखाई पड़ती हैं, और जिनको हम साधारणतया रोक नहीं सकते, और (२) स्वाधीन क्रियायें, जैसे उठना-बैठना आदि, जिनको करना या न करना हमारे वश की बात है। जैसा पहले कहा जा चुका है, स्थूल शरीर की सभी क्रियायें शरीर की अग्नि द्वारा संचालित होती हैं। परन्तु स्वाधीन क्रियाओं के होने के लिये केवल 'अग्नि' ही पर्याप्त कारण नहीं मालूम पड़ती। यह ठीक है कि कायाग्नि बिना हम नहाने के लिए उठ भी नहीं सकते, परन्तु यह भी सही है कि कायाग्नि होते हुए भी यह संभव है कि हम उस क्रिया को न करें। अतः क्रिया करने के लिये 'अग्नि' के अतिरिक्त किसी और भी शक्ति की आवश्यकता है।

यदि हम अपनी प्रत्येक क्रिया का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करें, तो हमें पता लगेगा कि हमारी प्रत्येक क्रिया के पीछे एक संकल्प या निश्चय रहता है, जिसके बिना क्रिया संभव ही नहीं। इस संकल्प या निश्चय करने वाली शक्ति को निश्चयात्मिका शक्ति या भगवद्गीता के शब्दों में व्यवसायात्मिका बुद्धि कह सकते हैं। जाड़े के दिन हैं सवेरे का समय चारपाई से उठ कर शौचादि से निवृत होकर संध्या करना है। परन्तु जाड़ा, नींद और आलस्य सब मिलकर एक स्वर में कहते हैं 'अभी पड़े रहो'। ऐसी विषम परिस्थिति में, हम जिस शक्ति द्वारा विरोध को पराजित करके उठने की क्रिया करते हैं, वह यही व्यवसायात्मिका बुद्धि है जिस प्रकार यहाँ 'पड़े रहने' और 'उठने में' से हमें एक का निश्चय या चुनाव करना पड़ा, उसी प्रकार का निश्चय या चुनाव अज्ञात रूप से हमें छोटी

से छोटी क्रिया के लिए भी करना पड़ता है। अतः व्यवसायात्मिका बुद्धि हमारी स्वाधीन क्रियाओं का मूल कही जा सकती है।

परन्तु, पराधीन क्रियाओं में क्या उसको बिल्कुल स्थान नहीं ? इस विषय में हमें याद रखना चाहिये कि ये पराधीन क्रियायें हमारी 'आदतों' से मिलती-जुलती हैं। आदतें प्रारम्भ में स्वाधीन क्रियायें ही होती हैं। कभी-कभी कोई बच्चा खेल में अपना कंधा उचकाता है और अपनी इच्छानुसार उस क्रिया को रोक भी सकता है। परन्तु, बार-बार करने से यह क्रिया उसकी आदत बन जाती है और वह उसे रोकने में विवश हो जाता है। यदि इस आदत को रोकने में वह सफल भी होता है, तो यह सफलता वैसी ही क्षणिक तथा प्रयास-साध्य होती है, जैसी 'श्वसन' आदि, पराधीन क्रियाओं को रोकने में। अतः कथित 'पराधीन क्रियाओं' को भी हम ऐसी आदतें कह सकते हैं, जो माँ के गर्भ में ही बन चुकी हैं। और जिस प्रकार आदतों के मूल में किसी सूक्ष्म और अज्ञात व्यवसायात्मिका बुद्धि को मानना पड़ेगा, उसी प्रकार इन 'पराधीन क्रियाओं' के मूल में भी। जब तक क्रियायें होती हैं, तब तक बोध या जागरण माना जाता है, इसीलिये कदाचित् इस शक्ति को 'बुद्धि' कहा गया।

(ख) **ज्ञानशक्ति**—ज्ञान-शक्ति, क्रिया-शक्ति की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म-प्रत्यक्ष है। क्रियाओं की भाँति ज्ञान-शक्ति को हाथ-पैर आदि अंगों की गति में नहीं निरखा जा सकता। उसके लिए तो हमें शब्द, रूप, रस आदि ग्रहण करने की साधारण ज्ञानप्रक्रिया से लेकर विवेक, विचार, कल्पना आदि पेचीदा ज्ञान-प्रक्रियाओं तक का सम्यक दर्शन करना पड़ेगा। एक ज्ञान-प्रक्रिया यथार्थ में प्रकाशन-प्रक्रिया है। जब हम कहते हैं कि 'हमने अमुक वस्तु जान ली', तो इसका अर्थ यही है कि वह वस्तु पहले हमारे लिये छिपी थी, अन्धकार में थी, और अब वह प्रकाश में आ गई। जिस प्रकार हमें वाह्य शब्द रूप आदि 'प्रकाशित' हो जाते हैं, उसी प्रकार इनसे पूर्व-गृहीत चित्र या उनके आधार पर बने हुये विचार आदि भी 'प्रकाशित' हो सकते हैं।

ज्ञान के इस 'प्रकाशन' के लिये संस्कृत में 'चित्' शब्द का प्रयोग होता है। अतः ज्ञान-शक्ति को 'चित्' या चेतस् भी कहते हैं। शब्द, रूप आदि ग्रहण करने में चित्त का जो रूप पाया जाता है, उससे विवेक, कल्पना आदि में काम आने वाला चित्त भिन्न होता है, क्योंकि पहले के विषय स्थूल पदार्थ होते हैं, जबकि दूसरे के विषय उनके आधार पर बने हुए संश्लिष्ट मानस-चित्र। पहले का ज्ञान श्रोत्र, चक्षु आदि विभिन्न अंगों का व्याकृत ज्ञान होता है, जबकि दूसरे का ज्ञान

इन सबके मेल से बना हुआ अव्याकृत ज्ञान। अतः पहले को स्थूल चित्त तथा दूसरे को सूक्ष्म चित्त कहा जा सकता है।

एक रूपक द्वारा ऐतरेय उपनिषद्[1] में इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति का मूल इन्द्र को बताया गया है। यथार्थ में 'इन्द्रिय' का अर्थ ही है 'इन्द्र-सम्बन्धी' या 'इन्द्र का'। यहाँ संक्षेप में उपनिषद् का रूपक दिया जाता है—आत्मा ने पुरुष को बनाया। उसमें चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्थापित कीं। फिर उसने सोचा मेरे 'बिना तो यह सब व्यर्थ है'। इसलिये उसने स्वयं पुरुष के भीतर प्रवेश करने की इच्छा की। परन्तु, घुसे तो किस द्वार से घुसे ? चक्षु आदि में से वह कोई एक इन्द्रिय मात्र तो था नहीं, वह तो सब का चालक था। अतः वह शिर की विदृति (दराज, छिद्र-ब्रह्मरंध्र) के द्वारा घुस गया। उसके तीन निवासस्थान (कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर) तथा तीन 'स्वप्न' (सुषुप्ति, स्वप्न, जागृति) हैं।

इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियों का संचालक इन्द्र माना जाता है और यह इन्द्र आत्मा का वह रूप है जो तुरीयावस्था और आनन्दमय कोश को छोड़ कर अन्य तीनों शरीरों तथा तीनों अवस्थाओं में पाया जाता है। अतएव मनोमय कोश की जिन क्रियाओं तथा विज्ञानमय कोश में प्रज्ञान आदि नाम से कहे जाने वाले उनके जिस एकीभूत रूप को ऊपर चित्रित किया गया है, उन सबको ब्रह्म, इन्द्र प्रजापति[2] या आत्मा बतलाया गया है :—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गंधानाजिघ्रति, येन वा वाच्यं व्याकरोति, येन वा स्वादु चाऽस्वादु च विजानाति, यदेतद् हृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं मेधा, दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा, जूतिः स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो, वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवंति।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिः।

(ग) **इच्छाशक्ति**—ऊपर हृदय-तत्त्व या संवेदनशक्ति का उल्लेख हो चुका है। इसी शक्ति के द्वारा हम शृंगारादि रस, रत्यादि भाव तथा व्यभिचारी और सात्विक नाम के स्थायी भावों का अनुभव करते हैं। इसी को सुखवादी (Hedonistic) मनोविज्ञान की सीधी-सादी भाषा में हम कह सकते हैं कि इस शक्ति के द्वारा हमें प्रिय या अप्रिय, मन के अनुकूल या मन के प्रतिकूल,

---

१—२, २ २—ऐ. उ. २, २।

सुन्दर या असुन्दर की पहचान होती है। यथार्थ में आधुनिक मनोविज्ञान[1] के अनुसार भी हमारे सारे भागों को प्रिय या अप्रिय में बाँटा जा सकता है। प्रिय या अप्रिय दोनों प्रकार की अनुभूति होते ही हमारे मुँह से 'इः'[2] जैसी ध्वनि निकल पड़ती है। अतएव 'इः' करुणा, ग्लानि, शोक आदि अप्रिय तथा आश्चर्य हर्ष आदि प्रिय अनुभूतियों का सूचक[3] समझा जाता है। अतः इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों को 'इः' कहा जा सकता था। इसीलिये 'इः' संस्कृत में कामदेव का नाम[4] है, क्योंकि असल में उक्त सभी अनुभूतियों को काम के अन्तर्गत[5] माना जा सकता है।

इस काम या इः का केन्द्र-स्थान मन या हृदय माना जाता है। इस प्रसंग में स्पंदनशील, छाती में रहने वाले, तथा रक्त-संचार करने वाले अंग को हृदय समझना भूल होगी। काम का केन्द्र हृदय मन से भिन्न नहीं, जैसा वैदिक साहित्य में प्रायः देखने को मिलता है। कदाचित् प्रारम्भ में हृद्, ह्लद् और हृदय पर्याय-वाची थे और 'हृद्' (एक प्रकार का गंभीर शब्द) उत्पन्न करने वाले सरोवर के द्योतक थे। मन भी सरोवर का उपमान तथा मानस झील का एक नाम है, क्योंकि एकाग्रमन होकर ध्यान लगाने पर हमें मन में भी एक शब्द सुनाई पड़ता है। इस मन या हृदय का केन्द्र-स्थान शिर ही है। परन्तु किसी प्रकार का भी 'इः' या काम का अनुभव वक्षस्थ हृदय के द्रुततर स्पंदन और कंपन में ही अधिक स्पष्ट रूप से देखा जाता है। इसीलिये साधारणजन इसी को उक्त शक्ति का केन्द्र समझ लेते हैं। वैदिक साहित्य और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस बात में सहमत हैं कि इस शक्ति का केन्द्र शीर्षस्थान में केन्द्रित मन ही है।

परन्तु इः या काम के भी दो रूप मालूम पड़ते हैं। एक तो हमारी विविध इंद्रियों द्वारा स्थूल रूप, रस आदि का आस्वादन करने वाला और प्रिय, अप्रिय का अनुभव करने वाला, तथा दूसरा सूक्ष्म विचारों, कल्पनाओं आदि में उसी अनुभूति को प्राप्त करने वाला। पहले को स्थूल काम तथा दूसरे को सूक्ष्म काम कहा जा सकता है। इन दोनों अवस्थाओं में काम 'मनोभव' (मन से उत्पन्न होने

१—दे. मैक्डूगल, 'सोशल साइकॉलॉजी', पृष्ठ ४३६।

२—तु. क. Smith, 'Eng. Language', Wundt, 'Vol.' psy. ch.

३—दे. आप्टे प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी ; विस्तृत विवरण के लिये तु. क. सें. पी. डिक्शनरी। ४—दे. वही।

५—दे. यूंग ''साइकालॉजी आफ़ द अनकान्शस' पृ.।

वाला) है और यथार्थ में एक ही है। इसका व्यापार केवल मनोमय कोश तक ही सीमित है। परन्तु इसका भी वीज एक दूसरा 'काम' है। वही काम मन का भी बीज कहा गया है।[1] यह यथार्थ में उक्त सूक्ष्म काम से भी सूक्ष्म है और विज्ञानमय कोश की शक्ति है। अतएव इस कोश की शक्ति का विज्ञान, आज्ञान आदि के साथ 'काम' भी एक नाम है।[2]

अतः प्रिय-अप्रिय के अन्तर्गत आने वाले सभी संवेदों और भावों का मूल्य काम या इः है। संस्कृत में 'छ' का अर्थ 'अंश, भाग या वच्चा' है; इसीलिये इः से उत्पन्न हुई शक्ति को इच्छा, 'इः' की बच्ची' कहा जा सकता है। इसके अनुसार ही उक्त शक्ति को आगमों में इच्छा-शक्ति कहा गया है।

(घ) **सौन्दर्यानुभूति**—कदाचित् यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस शक्ति को हमने हृदय-तत्त्व, संवेदन-शक्ति या इच्छा-शक्ति कहा है, वही काव्य, आलेख्य आदि मनुष्य-कृत तथा घन-गर्जन, पुष्प, उषा आदि प्राकृतिक विषयों में सौन्दर्य की अनुभूति कराती है। उक्त शरीर के व्यापार-क्षेत्रों का अध्ययन करने से पता लगेगा कि स्थूल शरीर में इस शक्ति द्वारा क्षणिक संचारी-भावों तथा स्तम्भ, रोमाच आदि सात्विकों का अनुभव होता है। जीवन में यही भाव जब किसी वस्तु, व्यक्ति या कल्पना के लिये बार बार उठते हैं, तो वे पक्के होकर उन विषयों के प्रति उत्पन्न हुए स्थायी भाव कहलाते हैं। ये वास्तव में मन द्वारा संचित संचारी भाव आदि ही हैं। काव्य, आलेख्य आदि से तत्काल उत्पन्न होने वाले भाव भी प्रथम क्षणिक होते हैं; परन्तु कलाकार के कौशल द्वारा जब वे अधिक उत्कट व तीव्र होकर केवल स्थूल शरीर की वस्तु न रहकर मनोमय कोश तथा सूक्ष्म-शरीर की वस्तु हो जाते हैं, तो वे एक बारगी स्थायी-भावत्व ग्रहण करके उक्त चिरकाल में बने हुए स्थायी भावों के समान ही तीव्र हो जाते हैं। उदाहरण के लिए एक युवक किसी युवती-विशेष को बार बार देखकर कोई प्रिय भाव अनुभव करता है और चिरकाल में इसी भाव को पागल प्रेम में परिणत पाता है। इसी प्रेम का अनुभव एक सहृदय दर्शक दुष्यन्त तथा शकुन्तला के अभिनय में थोड़ी देर में ही पा लेता है। ये स्थायी भाव भी प्रथम तो विविध स्थूल विषयों से सम्बन्ध रखने के कारण विविध होते हैं और इनके स्वरूप का भी ग्रहण हम सरलता से कर लेते हैं।

१—कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् अथ० वे० १९,५।२

२—दे० ऐ० उ० २,२ ऊ० उ० तु० क० विज्ञानमय कोश [illegible]

परन्तु इनका एक सूक्ष्मतर रूप भी है, जिसके फल-स्वरूप मन में इन स्थायी भावों के विशेषों को छोड़ कर केवल उनके सामान्यों (प्रिय तथा अप्रिय अनुभूतियों) की ही प्राप्ति होती है। इनमें से प्रथम को स्थूल तथा दूसरे को सूक्ष्म स्थायी भाव कह सकते हैं और क्रमशः पूर्वोक्त स्थूल तथा सूक्ष्म 'काम' के अन्तर्गत रख सकते हैं। ये दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ मनोमय कोश और सुषुप्ति अवस्था तक ही रह जाती हैं। इसके मूल को हमें और आगे विज्ञानमय कोश की शक्ति में ढूँढ़ना पड़ेगा, जिसमें मन की सारी विविधता एकीभूत हो जाती है, और जिसमें रहने वाला काम 'मनसो रेत': कहा गया है। यही चरम अद्वैत अनुभूति 'रस' नाम से कही जाती है। यह केवल 'प्रिय' मात्र है और ब्रह्मानंद-सहोदर कहलाने के योग्य है।

इसी को लक्ष्य करके साहित्यदर्पणकार ने लिखा है :—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मयः ;
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ।

जिस प्रकार जागृति और स्वप्न अवस्थाओं की ऋणात्मक अप्रिय अनुभूतियाँ सुषुप्ति अवस्था में जाकर अपनी धनात्मक प्रिय अनुभूतियों में परिवर्तित हो जाती हैं और हम सुख से प्रगाढ़ निद्रा का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार विज्ञानमय कोश में जाकर सारी विविधतामयी अनुभूति एकीभूत होकर केवल आनन्द से ओत-प्रोत हो जाती है। इसका अनुभव साधारण जन नहीं कर सकते। इसीलिये रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने इसको अलौकिक रस कहा है। और शृंगार आदि पृथक-पथक रूप से अनुभव किये जाने वाले रस, जिनको हमने ऊपर 'सूक्ष्म स्थायी भाव' कहा है, उक्त लेखक के मत में 'लौकिक रस' हैं।

उक्त दोनों रसानुभूतियों के समय हमारे भीतर एक विचित्र ध्वनि सुनने में आती है, जिसको कुछ कुछ प्रत्येक व्यक्ति सुन सकता है। जब आप किसी सुन्दर संगीत से प्रभावित होकर सचमुच झूमने लगें, या जब आप किसी सुन्दर दृश्य को देखकर उछल पड़ें, उस समय यदि आप अपनी आँखों और कानों को बन्द करके एकाग्रचित्त होकर बैठ जायँ, तो आपको एक ध्वनि सुनाई पड़ेगी, जिसको 'सु' या 'सुम्', 'हु' या 'हुम्' तथा 'उ' या 'उम्' द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिये जो वस्तुयें हमें प्रिय होती हैं, उनके नाम के पहले हम 'सु'[1], लगा देते हैं। सुम,

---

१—तु० क० सु शासन, सु संततिः, सु-पात्र आदि ।

सोम[1] जैसे बहुत से मनोऽनुकूल पदार्थों के नाम 'सुम्' से निकले हुए हैं। सूफी लोग ध्यानावस्था में सुनी जाने वाली एक ध्वनि को 'हु-हु' की आवाज कहते हैं, फारसी में हुम् से निकले हुए हुमा, होम आदि शब्द अत्यन्त प्रिय पदार्थों के नाम हैं; संस्कृत में 'उ' एक ध्वनि का द्योतक है, तथा 'उम्' से निकले हुए उमा[2] आदि शब्द आनन्द-कारी पदार्थों के नाम हैं। परन्तु आध्यात्मिक पक्ष में सुम्, हुम् और उम् से निकले हुए शब्द 'सु', 'हु', तथा 'उ' से निष्पन्न शब्दों की अपेक्षा अधिक प्रचलित हुए मालूम पड़ते हैं; अतः संस्कृत और फारसी में क्रमशः सोम तथा होम तो आनन्द-स्वरूप परमात्मा का ही नाम है। इसलिये उक्त रसानुभूति को 'सुम्' या 'उम्' कह सकते हैं और उसके स्रोत को सोम या ओम्।

यद्यपि वैदिक 'सोम'[3] देवता के विषय में आगे लिखा जावेगा, परन्तु यहाँ पर इतना कहना अनुचित न होगा कि सोम और ओम् दोनों शब्दों का आधार वही सौन्दर्यानुभूति या आनन्द है, जिसे अध्यात्मवादी लोग ब्रह्मानन्द कहते हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि सौंदर्यानुभूति कराने वाली इच्छा-शक्ति, जिसको अब हम 'सुम्' या 'उम्' कहेंगे, स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर में जो अनुभूति कराती है वह शुद्ध आनन्द की नहीं होती, और विज्ञानमय कोश या कारणशरीर में ही वह एकीभूत होकर केवल 'प्रिय' या 'रस' का अनुभव कराती है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर का मिलावटी 'सोम' विज्ञानमय कोश की पवित्र[4] (छलनी) में पवन (छनवा) होने के बाद शुद्ध होता है। इसीलिये विज्ञानमय (देव) कोश के प्रेरक को अथर्ववेद[5] में पवमान (पवनेवाला या छनने वाला) कहा गया है और ऋग्वेद का नवम मण्डल इसी पवमान सोम के स्तवन से भरा पड़ा है। हमारा स्थूल-शरीर तो इस सोम (आनन्द) की बूँदों को भी तरसा करता है, परन्तु यहाँ वह सहस्र-धारा होकर पवित्र (छलनी)[6] से निकलता

१—तु० क० सुमः (चन्द्र, कपूर, आकाश); सुमं (पुष्प) सुम्नं (हर्ष, सुख, प्रसाद, पुष्प), सोमः (चन्द्र, अमृत, किरण, कपूर); सोमं (आकाश, स्वर्ग); सोमल (कोमल गुदगुदा) आदि।

२—उमा शब्द के अर्थ 'प्रकाश, तेज, ज्योति, शान्ति, यश आदि हैं।
तु० क० ओमन्, ओमः इत्यादि। ३—दे० 'वैदिक देवता' आगे।

४—ऋ० वे० ९ ५—दे० ऊपर 'देवकोश'।

६—ऋ० वे० ९, १३, १; ५२, २; ८६, ७; ३३; ८९, १; ९६, ९, ९७, ५; १९; १०१, ६; १०७, १७; १०९, १६, १९; ११०, १.

है। सारे सोम का मूल स्रोत तो 'आनन्दमय' कोश ही है। यहीं आकर सोम अन्य कोशों के अस्थायित्व को छोड़ कर स्थिर हो जाता है और अमृत[1] कहलाता है। परन्तु विचित्र है यह अमृत, जो ऊपर की ओर छनता है और शरीर रूपी वृक्ष का प्रेरक भी है:—

अहं वृक्षस्य रेरिवः कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्व-पवित्र वाजिनीवस्वमृतमस्मि।
द्रविणं सवर्चसम्, सुमेधाऽमृतोक्षितः।
सुमेधा अमृतोऽक्षितः।

जैसे विज्ञानमय कोश में मिलने वाले सोम या आनन्द को पवमान कहा गया है, वैसे ही इसका अनुभव कराने वाली शक्ति को पावमानी कहा गया है और उससे पूत ब्रह्म को पाने के लिये (तेन ब्रह्म विदो वयं ब्रह्म पुनीम हे) प्रार्थना की गई है। यथार्थ में विज्ञानमयकोश की यह एकीभूत शक्ति ही उस आनन्दमय पूत ब्रह्म की प्राप्ति करा सकती है। रसानुभूति का नाम 'उम्' होने के कारण इसी शक्ति का नाम उमा है। इसी हैमवती उमा के द्वारा ही इन्द्र को 'यक्ष' (ब्रह्म) का ज्ञान होता है,[2] क्योंकि उमा उसी ब्रह्म ही की तो शक्ति है जो स्वयं ओम् (उम् से निष्पन्न नाम) भी कहलाता है। इसी के कारण ओम् चतुष्पाद होकर एक-एक पाद से जागृति से लेकर तुरीयावस्था तक में विद्यमान और शरीर की सभी क्रियाओं का संचालन करने वाला कहा गया है[3]।

(ङ) **अन्तःकरण तथा पराशक्ति**—इच्छा शक्ति के स्वरूप पर ध्यान देने से पता चलेगा कि यह शक्ति क्रिया और ज्ञान दोनों में पाई जाती है। प्रत्येक ज्ञान से और प्रत्येक क्रिया से हमें प्रिय या अप्रिय अनुभूति होती है। क्रिया-शक्ति को यदि उद्बुद्ध अग्नि कहें, तो ज्ञान-शक्ति प्रकाश है और इच्छा-शक्ति उष्णता है जो अग्नि और उसके प्रकाश दोनों में विद्यमान है। उक्त तीनों शक्तियों के जो सूक्ष्म रूप व्यवसायात्मिका बुद्धि, चित्त और मन बतलाये गये हैं, उनको क्रमशः अग्नि का उद्बुद्धत्व, प्रकाशत्व तथा उष्णत्व कह सकते हैं। यथार्थ में अग्नि के ये तीनों गुण अलग अलग नहीं रह सकते, ये तीनों ही अग्नित्व के अंग हैं। उसी प्रकार बुद्धि, चित्त और मन भी पृथक-पृथक नहीं, अपितु हमारे सारे 'अहम्' के अंग मात्र हैं। इन्हीं तीनों के योग से हमारी 'अहंता' बनती है। अतः इन तीनों के संयुक्त रूप को

१—तु० क० ऋ० वे० ९, ६८, १ तै० उ० १०, १ आदि।
२—के० उ० १, ११, ३-४ ३—मा, उ० १, १२।

चित्र नं० ४
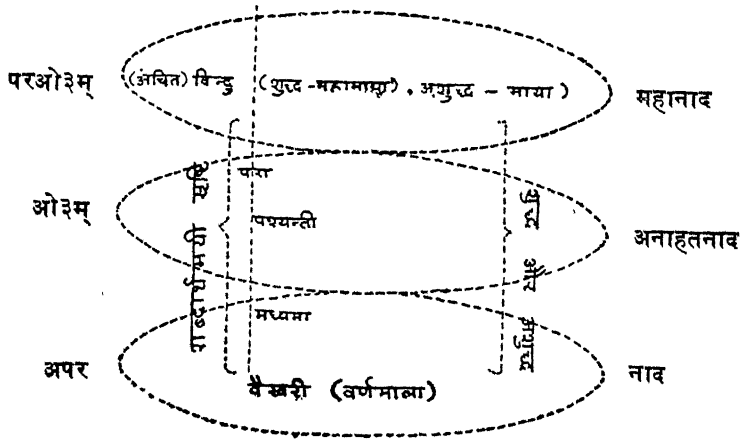
शिव (ओ३म्-स्फोट)

ही अहंकार कहते हैं, जिसमें हमारी सभी शक्ति एकीभूत होकर रहती[1] है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को मिला कर ही अन्तःकरण कहा जाता है।

इस 'अहंता' के भी दो रूप मानने पड़ेंगे एक मनोमय कोश में बुद्धि, चित्त, मन के साथ बहुमुखी होकर काम करती है, और दूसरी विज्ञानमय कोश में एकोन्मुखी होकर रहती है। आगमों में, पहली मनोमय कोश के साथ होने से 'समनी' और दूसरी उससे ऊपर होने से 'उन्मनी' कही जाती है। यही उन्मनी शक्ति विज्ञानमय कोश की एकीभूत शक्ति है, और इच्छा, ज्ञान, क्रिया के विभिन्न रूपों की दृष्टि से काम, प्रज्ञान, क्रतु आदि इसी के अनेक नाम ऊपर गिनाये जा चुके हैं। यही उक्त पावमानी तथा उमा है। साधारणतया इसको 'परा' शक्ति कहते हैं, जिसका वर्णन वेद में अनेक बार आता है। चित्तप्रवृत्तियों[2] को 'परा' में जाने के लिये प्रार्थना की जाती है। यही एकीभूत स्थिर पद[3] है, जो तप द्वारा प्राप्त हो सकता है।[4] इसी 'परा' पद पर आनन्दमय अरुष (सोम) व्यक्त होता है;[5] यही शुभ्र सोम है (ऋ. वे. १,१६७,४) और यही वह कोश है, जिसमें से हमारे अन्य मनोमयादि कोशों में चारों ओर 'मधु' (सोम रस या आनन्द) चुआ करता[6] है। परा इंद्रियों की 'चित्त' (ज्ञान-शक्ति) है, जिसे इन्द्र ने शिर के द्वारा बन्द कर रक्खा है,[7] यही वह आदि 'बृजिन' (बाड़ा, पिंजड़ा) है, जिसमें हमारी दिव्य शक्तियाँ सर्वप्रथम बन्द[8] थीं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के क्षेत्रों को तीन 'पुर' भी माना जाता है और पराशक्ति इन तीनों में और तीनों से ऊपर भी रहने के कारण 'महात्रिपुरसुन्दरी' कही जाती है।

सैषा पराशक्ति......सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्यबहिरन्तरवभासयन्ती महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः।

३—शक्ति और शक्तिमान्

(क) **ओम्–उमा**—किसी शक्ति का अस्तित्व उसके शक्तिमान् के विना

१—अ० वे० १९, ५१, १। २—ऋ० वे० १, २५, ४, १६।
३—वही, १, ३९, ३। ४—वही, १०, ८६, २, अ० वे० ८, ३, १३।
५—ऋ० वे० ९, ७१, ७ ६—वही, ९, १०३, ३, सा० वे० ५७७
७—वही, १, ३३.५ ८—वही, १०, ८७, १५; अ० वे० ८, ३, १४, ऋ० वे० १०, ८७, १५; अ० वे० ८, ३, १४

नहीं हो सकता। अतः पराशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी का भी कोई शक्तिमान् होना ही चाहिये। हिरण्ययकोश या ब्रह्मपुरी के वर्णन में एक 'यक्ष', 'ब्रह्म' या पुरुष का उल्लेख किया जा चुका है। यही इस शक्ति का शक्तिमान् है, यही उक्त उमा का ओम् है, जिसकी 'महिमा' (शक्ति) इस पृथिवी पर है और जो मन, प्राण, शरीर आदि का संचालक है[1] :—

> **ओमित्यवध्यायथ आत्मानं सः**
> **स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ।**
> **यः सर्वज्ञः सर्वविधस्यैष महिमा भुवि,**
> **दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योमन्यात्मा प्रतिष्ठितः ।**
> **मनोमयप्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्नहृदयं संनिधाय ।**

यह ओंकार 'पर' और 'अपर' दोनों ब्रह्मों का नाम[2] है, 'अपर रूप' में वह जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति में अपनी शक्ति से विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु 'पर' में वह सारा प्रपञ्च शान्त हो जाता है और वह तुरीयावस्था में पहुँचकर ब्रह्मलोक का वासी अव्यक्त और अद्वैत पुरुष कहलाता[3] है।

(ख) वाक्—यह अव्यक्त और अद्वैत पुरुष अपनी महिमा (शक्ति) के द्वारा ही व्यक्त होता है। मनुष्य जब अपने को व्यक्त करता है, तो किसी न किसी 'वाक्' का प्रयोग करता है। अतः ब्रह्म जिस महिमा (शक्ति) द्वारा अपने को व्यक्त करता है, उसे भी वाक् कहा गया है। लिखा है कि 'वाक्' आत्मा की 'स्व' या महिमा[4] है, जिसके द्वारा वह 'एक से बहुत' होता है[5]—अव्यक्त से व्यक्त होता है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इस शक्ति की अभिव्यक्ति के साथ सु या सुम्, हु या हुम् अथवा उ या उम् ध्वनि का भी सम्बन्ध है। इसलिये इस शक्ति को 'वाक्' कहना और भी अधिक उपयुक्त था। हम जिस वाणी को बोलते-सुनते हैं, वह शब्दार्थमयी वर्णात्मक स्थूल वाक् है और भीतरी सूक्ष्म वाक् का व्यक्ततम रूप है। अव्यक्त रूप में यही अवर्णा तथा शब्दार्थ-रहित हो जाती है, इसी प्रकार अन्य शक्तियाँ भी अव्यक्त से व्यक्त होती हैं। अतः वाणी के रूपक द्वारा शक्ति-मात्र की सृष्टि का वर्णन किया जा सकता था ; श्वे० उ० में कहा गया है:—

१—मु० २, ७। २—परंचापरं च ब्रह्म वेदोंकारः प्र० ३, ५, २।
३—मा० उ० २-१२; प्र० उ० ५, २-६ ४—श.ब्रा. १,४,२,१७ आदि।
५—ता. म. ब्रा. १४,२; का. सं. १२,५,२७,१; श. ब्रा. २,४,४।

एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति-योगात्

इसी आधार पर आगम-ग्रन्थों में तो शक्ति को नाद, शब्द, रव, स्वन आदि नाम देकर बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। यह विषय प्रस्तुत वैदिक विषय से इतना मिलता जुलता है कि इसका संक्षिप्त परिचय दे देना यहाँ उपयोगी होगा।

(ग) **आगमग्रंथों में वाक्**—विष्णु संहिता के अनुसार 'परंज्योति' एक है, जो अपनी 'माया' में बहुधा हो जाती है।[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता में यही 'माया' या पारमात्मिका अहंता है, जो सारे जगत् का रूप धारण करती है[2]। यह शक्ति शक्तिमान् से वही अविनाभाव संबंध रखती है, जो कि अग्नि और दाहकत्व में है। इसी को 'परा' या परादेवी कहते हैं, जो पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप में विभक्त हो जाती है। परा के उक्त तीनों भेदों को ही क्रमशः इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति भी कहते हैं[3]। उक्त पराशक्ति को 'परावाक्' कहा जाता है,[4] परन्तु महार्थमञ्जरीकार ने इसको 'सूक्ष्मा' तथा क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्ति को क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी वाक् कहा है।[5] स्फोटवाद के अनुसार आत्मा या स्फोट 'वाच्य' है और उसकी 'वाचक' शक्ति को 'नाद' या प्राकृत 'ध्वनि' कहते हैं, जो नाना रूप धारण करके 'व्याकृत' ध्वनि कहलाती है। यथार्थ में बहुत्व और विकार तो 'व्याकृत' ध्वनि में ही है, न कि स्फोटात्मा में। आत्मा पहले नाद या प्राकृता ध्वनि के रूप में व्यक्त होता है (वा. प. १, २, ३०–३१, १,७९), फिर वही शक्ति बुद्धि तथा प्राण आदि के सहारे नाना रूप धारण कर लेती है (वा० प० १,७७)। ये विकार वस्तुतः इस 'नाद' या ध्वनि में होते हैं,

---

१—देवतेऽपरं ज्योतिरेक एव परः पुमान्।
स एव बहुधा लोके मायया भिद्यते स्वया।

२—सर्वभावात्मिका लक्ष्मीरहंता पारमात्मिका, तद्धर्मधर्मिणी देवी भूत्वा सर्वमिदं जगत्। ३—वा. प. ७१-७३, वै. प. इ. २८-४५ अनु.

४—स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनि कालानुपातिनः,
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।
स्वभावभेदो नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु,
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते (वा. प. २,३०,३१)

५—शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तं वृत्तिभेदे तु वैकृताः,
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।
(वा. प. १,७७)

परन्तु फिर भी निर्विकार आत्मा में भी इनकी प्रतीति होती है (वा० प १४८, ४९)।

स्फोटात्मा को प्रणव या ओम् भी कहा जाता है और सूत-संहिता इसके दो भेद करती है—१—पर या ब्रह्मरूप और

२—अपर या शब्द रूप:—

परः परतरं ब्रह्म ज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
प्रकर्षेण प्रणवः यस्मात् परं ब्रह्म स्वभावतः ॥
अपरः प्रणवः साक्षाच्छब्दस्य सुनिर्मलः ।
प्रकर्षेण नवत्वस्य हेतुत्वात् प्रणवःस्मृता ॥

माण्डूक्योपनिषद् की भाँति भागवत् पुराण भी इसी परब्रह्म ओंकार का उल्लेख करता है, जो शक्ति (नाद) उत्पन्न होने पर अपर प्रणव (ओंकार) के रूप में होकर त्रिवृत ओंकार का रूप धारण करता है[1] ।—

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः,
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ।
ततो अभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्,
यत्तल्लिंगभगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥

(घ) **नाद, अनाहतनाद और महानाद**—कोई कोई आगम ग्रंथ सच्चिदानन्द ओंकार से शक्ति, शक्ति से नाद, और नाद से विन्दु की उत्पत्ति बतलाते हैं (आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्विन्दुसमुद्भवः) शक्ति से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला यह नाद महानाद कहलाता है और अष्ट प्रकरण के अनुसार उक्त विन्दु का नाम अनाहत 'नाद' भी है (विन्दुरेव समाख्यातो व्योमानाहतमित्यपि) इसी अनाहत नाद या पर विन्दु से 'नाद' उत्पन्न होता है (भिद्यमानात्पराद्विन्दोरव्यक्तात्मारवोऽभवत्) यह नाद अव्याकृत अवस्था में होता है, और व्याकृत होकर नाना 'वर्णों' को जन्म देता है, जो 'कार्य-नाद' कहलाते हैं (वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदशः)

कुछ शैवागमों में आत्मा से उत्पन्न होने वाली वर्णादि की इस बहुमुखी सृष्टि को एक दूसरे ढंग से भी कहा गया है। वैदिक सिद्धांत से इसका सम्बन्ध तथा सादृश्य होने से, संक्षेप में उसका वर्णन कर देना आवश्यक है।

शिव की शक्ति का नाम ज्ञान शक्ति है, जो कि सारी सृष्टि का निमित्त कारण है। शिव और एक शक्ति मिल कर शिव-शक्ति तत्त्व बनते हैं, जिससे

१—१२,६,३६-४४

परमेश्वर की परिग्रह-शक्ति या क्रिया-शक्ति का जन्म होता है। परिग्रह-शक्ति बिन्दु कहलाती है और सृष्टि का उपादान कारण है। यह बिन्दु शुद्ध तथा अशुद्ध दो प्रकार का है। शुद्ध बिन्दु को महाबिन्दु या महामाया तथा अशुद्ध बिन्दु को माया भी कहते हैं। शक्ति तथा बिन्दु के सम्बन्ध को 'विकल्प' या 'भेदज्ञान' कहते हैं। इसी विकल्प का आश्रय लेकर शिव 'शुद्ध बिन्दु' में क्षोभ पैदा करता है, जिससे शब्द और अर्थ की दो धारायें चलती हैं। इन दोनों की पृथक्-पृथक् चार अवस्थायें परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी होती हैं। शुद्ध बिन्दु से होने वाली यह सृष्टि 'शुद्ध सृष्टि' कहलाती है। अशुद्ध बिन्दु भी इसी प्रकार क्षुब्ध किये जाने पर अशुद्ध सृष्टि करता है और उससे शब्द और अर्थ की धारायें भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन चार अवस्थाओं में व्यक्त होती हैं। ये दोनों प्रकार की सृष्टियाँ जिस बिन्दु से उत्पन्न हुई हैं वह 'अचित्' है। अतः जब तक इन दोनों को पार नहीं कर लिया जाता, तब तक परमात्मन् शिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

आगमों की शब्द-सृष्टि जिस प्रकार चित्रित करते हैं उसे चित्र नं० ४ में देखिये:—

(ङ) **वाक् और वेद (अथर्वा का शिर)**—ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मा या ओम् की शक्ति 'वाक्' कहलाती है, जिसके द्वारा वह अपने को अव्यक्त से व्यक्त करता है—एक से बहुत हो जाता है। व्यक्त रूप में न केवल उसके अनेक रूप हो जाते हैं, अपितु उसकी शक्ति के भी। परन्तु अव्यक्त रूप में ये सारे वाक् ओम् में ही समा जाते हैं, अतः कहा जाता है कि ओंकार ही सर्व 'वाक्' है, जो अभिव्यक्त होकर अनेक-रूपा हो जाती है (ओंकार एव सर्वा वाक्. . .सैषा पूज्यमाना बह्वी भवति)। 'वेद' को भी 'वाक्' का पर्यायवाची समझा जाता है। अतः 'सभी वाक्' वेद में भी अनुप्रविष्ट बताई जाती है (सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः); वेद के द्वारा 'ब्रह्म' जब व्यक्त होता है, तो पहले 'छन्दस्य' पुरुष होता है; फिर ऋङमय, यजुर्मय और साममय रूप में त्रिवृत हो जाता है (एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोछन् वैराजः पुरुषः. . . स उ एव एष ऋङमय यजुर्मयः साममयो वैराज पुरुषः)। पुरुषसूक्त में इसीलिए छन्द, ऋक्, यजु और साम की उत्पत्ति पुरुष से बताई गई है[1]। बृहदारण्यक[2] उपनिषद् में

१—तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।

२—१, २, २

कहा गया है कि आत्मा ने 'वाक्' द्वारा छन्द, ऋक्, यजु और साम आदि की सृष्टि की (स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूंपि सामानि छन्दांसि) उक्त उद्धरणों में 'छन्द' शब्द से 'अथर्ववेद' ही समझना चाहिये, क्योंकि सृष्टि-प्रसंग में ऋगादि के साथ 'अथर्ववेद' का ही उल्लेख मिलता है[१]—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामनि यस्यस्तोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।

इस बात की पुष्टि परवर्ती परंपरा से भी होती है । अतः हरिवंशपुराण में अथर्ववेद को निश्चित रूप से छन्द कहा है:—

ऋचो यजूंषि सामनि छन्दस्याथर्वणानि च ।
चत्वारस्त्वरिवला वेदाः सरहस्यास्सविस्तराः ।

आगम-ग्रंथों में भी वाक् या शक्ति को वेद नाम दिया गया है, जो एक से 'त्रिवृत' हो जाता है (वा० प० १,४–५) वायुपुराण में लिखा है कि 'प्रभु ने चतुष्पाद' एक वेद को चार भेदों में विभक्त कर दिया (वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः) सनत्सुजातीय के अनुसार 'यज्ञ-संतति' के लिये एक वेद को चतुर्विध कर दिया गया (व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्) उपनिषदों के समान आगमों में भी ओइम् तथा इसके तीन वर्णों अ, उ, म्, के साथ वेदों का समीकरण किया गया है । उक्त स्फोट या ओइम्, वाक् और वेद का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित श्लोकों से भली प्रकार व्यक्त होता है:—

शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक् ।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ।
स्वधाम्ना ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेद-बीजं सनातनम् ।
तस्य ह्यासन् त्रयो वर्णाः अकाराद्याः भृगूद्वहा
धार्यन्ते यैस्त्रयो गुणानामर्थवृत्तयः ।
ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवान् ।
अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शदीर्घह्रस्वादिलक्षणम् ।

चारों वेदों में से अथर्ववेद[१] का सम्बन्ध 'देवकोश'[२] या विज्ञानमय कोश से है, जिसमें अथर्वा ने मूर्धातत्त्व तथा हृदय-तत्त्व को सी दिया है और जिसको

१—अ. वे. १०, ७, २० ।   २—दे. 'देवकोश' ऊपर ।

'पवमान'[1] प्रेरित करता है[2]। ऋग्वेद[3] भी इसी बात की पुष्टि करते हुये छन्दस्य (अथर्ववेदीय) वाक् बोलने वाले ब्रह्म 'पवमान' का उल्लेख करता है, जहाँ सभी रस (अनुभूतियाँ) और रसी (रसानुभूति की शक्तियाँ) एकत्र होते हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि अथर्ववेद को देवकोश की पराशक्ति माना जाता है, जो इच्छा ज्ञान, क्रिया तीनों का बीज है। अथर्ववेद में देवकोश (विज्ञानमय कोश) को 'अथर्वा का शिर' कहा गया है ; उसके विस्तृत वर्णन से चारों वेदों के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। नारायणाथर्वोपनिषद् से पता चलता है कि शक्ति के विस्तार-स्थिति-संकोच में काम करने वाली क्रिया-शक्ति को ऋग्वेद शिर, विविध क्रियाओं के कर्ताओं में एक ही सत्ता के ज्ञान को यजुर्वेद शिर, इच्छा-शक्ति द्वारा प्राप्त होने वाले अमृत या आनन्द को सामवेद शिर तथा पराशक्ति द्वारा होने वाले कारण-पुरुष की अनुभूति को अथर्ववेद शिर कहा है। दुर्गा सप्तशती में क्रिया-शक्ति की अधिष्ठात्री महाकाली को ऋग्वेदस्वरूपिणी, ज्ञान-शक्ति की देवी महालक्ष्मी को यजुर्वेदस्वरूपिणी तथा सौन्दर्यानुभूति कराने वाली इच्छा-शक्ति की अधिष्ठात्री महासरस्वती को सामवेदस्वरूपिणी बतलाया गया है।

अतः यद्यपि चार वेद हैं, परन्तु यथार्थ में वे तीन ही हैं, क्योंकि अथर्ववेद तो अन्य तीनोंवेदों का संयुक्त सूक्ष्म रूप ही है। यही कारण है कि चारों वेदों में केवल 'त्रयी' की ही उपस्थिति मानी जाती है[4] :—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा ।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति की भाँति क्रमशः साम, यजु और ऋक् के अन्तर्गत हमारे अंगों की सारी शक्तियाँ आ जाती हैं ; अतः इन तीनों के संयुक्त सूक्ष्म रूप को 'आंगिरस' अर्थात् अंगों का रस कहा जा सकता है ; साथ ही आत्मा या ब्रह्म की ओर से विचार करें, तो विज्ञानमय कोश में जब ब्रह्म पराशक्ति से युक्त होता है, तो इसी 'संयुक्त सूक्ष्म' रूप में होकर 'त्रयी' में विभक्त होने के लिये वह 'अथ अर्वाक् (शब्दार्थः अब नीचे की ओर को आरम्भ) करता है—नीचे नानात्व की ओर जाता है ; इसीलिये इसका नाम 'अथर्वा' भी हो सकता है। यही कारण है कि इसको 'अथर्वांगिरस' कह कर पुकारते हैं। अतः स्वयं अथर्ववेद[5] में कहा है:—

१—दे. 'सौन्दर्यानुभूति' ऊपर। २—९,१,३,५-६। ३—सा. म. १,१ अनु. ४—म. भा. शान्तिपर्व २३५। ५—१०,७,२०

यस्मादृचः अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्,
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम् ।

यह चारों वेदों में पाई जाने वाली त्रयी क्रमशः क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्ति की प्रतीक होने से केवल जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति में ही रह जाती है; अतः इन तीनों तक ही सीमित रहने पर, मृत्यु से छुटकारा होकर आनन्दमय कोश का अमृत नहीं प्राप्त हो सकता । इसीलिये मुंडक उपनिषद्[1] में वेदों को केवल 'अपरा विद्या' में सम्मिलित किया है, जो 'ब्रह्म' की प्राप्ति कराने वाली 'परा' विद्या से निकृष्ट है । प्रश्नोपनिषद्[2] का कथन है कि 'शांत, अजर, अमृत, अभय पर' लोक की प्राप्ति तो ओंकार से ही होती है, ऋक्, यजु तथा साम से नहीं; छान्दोग्य[3] उपनिषद् में कहा गया है कि, जैसे कोई जल में देख ले, वैसे ही मृत्यु ने देवताओं को ऋक्, यजु तथा साम में देख लिया ; देवता लोग यह जानकर ऋक्, यजु तथा साम से ऊपर उठकर 'स्वर' में चले गये'। अतः जो क्रिया, ज्ञान और इच्छा को ही साध्य बना लेता है, वह तो केवल क्षणिक सुख ही भोग सकता है । इसीलिये भगवद्गीता[4] में केवल इन्हीं (ऋक्, यजु, साम या क्रिया, ज्ञान, इच्छा) को ही सर्वसाध्य समझने वाले 'वेदवादरत' लोगों की बहुत कड़े शब्दों में आलोचना की गई है और ब्रह्मज्ञानी के लिये इन वेदों (इच्छादि के प्रतीक ऋगादि) को निरर्थक कहा गया है :—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके,
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ।

(च) व्याहृतियाँ तथा ब्रह्मवाक्य वेद—हम देख चुके हैं कि ब्रह्मवाक् या वेद द्वारा अपने को व्यक्त या व्याहृत करता है । अतः वेद ब्रह्म का वाक्य या व्याहृति हैं । ये व्याहृतियाँ भी वेदों की भाँति भूः, भुवः और स्वः कही जाती हैं । मैत्रायणी[5] संहिता में लिखा है "प्रजापति ने सत्य को तीन भेदों में व्याहृत किया भूः, भुवः तथा स्वः । ये तीनों व्याहृतियाँ हमारे अंगों का रस हैं, इसलिये इनका सम्बन्ध आंगिरस से दिखाया गया है[6] और आंगिरस के अन्तर्गत आने वाले ऋक्, यजु तथा साम को क्रमशः भूः, भुवः और स्वः की उत्पत्ति बतलाया गया

१—१,१,४ २—५,५ ३—१,४,२ । ४—२,४१,५३ ।

५—**त्रिर्वा इदं प्रजापतिः सत्यम् व्याहरत् भूर्भुवः स्वः इति तु. क. १,८,१८, ३४,३७,४१,३,४,१०,का. स., मै. स, २३,३६,३ ।**

६—**मै. स. १, ६, १३, तु. क. १,६,२१,४,९,२०६ ।**

चित्र नं० ५

ब्रह्म
आनन्दमय
प्रियं
अमृत
योग
अथर्वाङ्गिरस
विज्ञानमय
श्रद्धा
स्व
मन
सोम
मनोमय
प्राणमय
स्पर्श
स्पर्श
प्राण
अन्नमय
चक्षु
चक्षु
श्रोत्र
श्रोत्र
घ्राण
प्राण
वाक
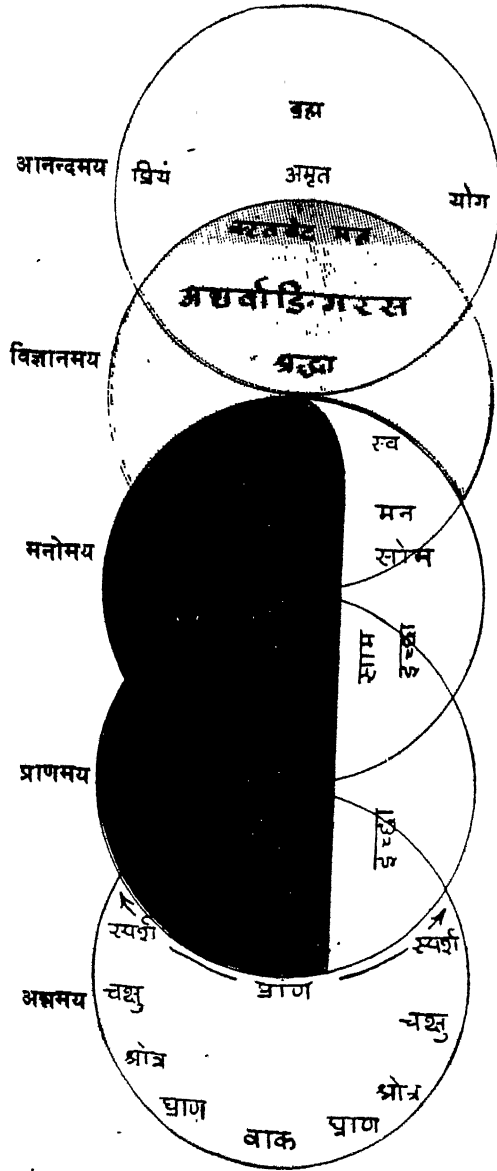
है[1] और उनको त्रयी का रस कहा गया है (स: तां त्रयीं विद्यामभ्यतपत तस्याः तप्यमानायाः रसान् प्रावृहत् भूरित्यृग्भ्य भुवरित यजुर्भ्यः स्वरित सामभ्यः)

इन तीनों व्याहृतियों के अतिरिक्त 'महः' चौथी व्याहृति है; जिसका सम्बन्ध 'ब्रह्मवेद'[2] (अथर्ववेद)[3] से है। अतः भूः, भुवः, स्वः तथा महः को क्रमशः ऋक्, यजु, साम तथा ब्रह्म (अथर्ववेद) का रस या सूक्ष्म रूप माना जा सकता है।

व्याहृतियों का वेदादि से सम्बन्ध चित्र नं० ५ में देखिये।

४—पुरुष

(क) पुरुष और शक्ति का विकास—ऊपर के विवेचन से यह प्रकट हो चुका है कि हमारे आचरण में जो इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति पाई जाती है, उसका मूल-स्रोत पुरुष है, जिसको 'ब्रह्म', 'यक्ष' आदि अनेक नाम दिये गये हैं। इसी पुरुष से शक्ति का विकास होता है, जो एक से नानात्व में बदल जाती है। परन्तु शक्ति-विकास की विभिन्न अवस्थाओं में पुरुष और शक्ति का परस्पर क्या सम्बन्ध होता है ? क्या वे दोनों पृथक-पृथक होते जाते हैं, अथवा संयुक्त रहते हैं ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिये शक्ति-विकास का वर्णन करना आवश्यक है। ब्राह्मण-ग्रंथों में इसका वर्णन एक सुन्दर रूपक द्वारा किया जाता है, जिसमें पुरुष को प्रजापति माना जता है और उससे विकसित होने वाली विभिन्न शक्तियों को प्रजा माना जाता है:—

प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाग्द्वितीयासीत्ताम्मिथुनं समभवत्सा गर्भमधत्त सास्मादप्राक्रामत्सा प्रजा असृजत्। सा प्रजापतिमेव पुनः प्राविशत् (ता. म. ब्रा. २०।१४।। तु. क. का. सं. २।५।२७।१।; ऐ. ब्रा. २।३३; श. ब्रा. २।२।४।४; ४।२।७; ७।५।२।६ जै. उ. १।४६)

बृहदारण्यक उपनिषद[4] में इसी प्रकार आत्मा से अनेक प्रजाओं की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है:—

"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्यतान्यदात्मनोऽपश्यत्सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरन् ततोऽहंनामाऽभवत् स द्वितीयमैच्छत्. . .स हैतावानास यथा स्त्री

१—छा. ३०४.३। २—तै. उ. १,५।

३—अ. वे. १५,७,८ तु. क. गोपथ ब्राह्मण, चत्वारो वा इमे वेदा: ऋग्वेद; यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः। ४—४,१,३।

पुमांसो संपरिष्वक्तौ । स इममेवात्मानं द्विधाऽपातयत् पतिश्च पत्नी चाऽभवताम्, अजायन्त...''

उक्त सारी शक्तियाँ, उत्पन्न होने से पहले, आत्मा में गुप्त रहती हैं ; इसलिये आत्मा को गोपा (या गुप्त रखने वाला) कहा जाता है। यह गोपा एक से अनेक होने में जिन विभिन्न अवस्थाओं में होकर गुजरता है, उनका वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया गया है:—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा पथिभिश्चरंतम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीव र्ति भुवनेष्वन्तः ।

ऊपर दिये हुए तीनों वर्णनों को यदि एक साथ रख कर तुलना की जावे, तो आत्मा से उत्पन्न होने वाली शक्ति की पाँच अवस्थाएँ दिखाई पड़ेंगीः—

(१) प्रजापति (केवल)	(१) आत्मा केवल	(१) अनिपद्यमान गोपा
(२) वाग्द्वितीय	(२) अहंनाम	(२)परापथिभिश्चरन्तम्
(३) मिथुनं	(३) स्त्रीपुमांसौसंपरिष्वक्तौ	(३) सध्रीची
(४) साऽस्मादपक्रामत्	(४)आत्मानंद्विधाऽपातयत् पतिश्च पत्नीच	(४)विषूची
(५) सा प्रजा असृजत् प्रजापतिं पुनः प्राविशत्	(५)अजायन्त (प्रजाः)	(५)वसानः

इन पाँच अवस्थाओं में से प्रथम तो 'केवल ब्रह्म' की अवस्था है, जब कि उसकी सारी सृष्टि उसी में लीन या गुप्त रहती है और उसमें कोई गति नहीं रहती। इसीलिए इस निश्चल ब्रह्म को 'अनिपद्यमान गोपा' (न चलने वाला गोपा) कहा गया है[1]। दूसरी अवस्था में ब्रह्म का कैवल्य नष्ट होने लगता है; क्योंकि आत्माभिव्यक्ति की शक्ति (अर्थात् वाक्) का उदय होने लगता है, जिससे वह 'अहमस्मि' की अनुभूति द्वारा 'अपने' को ही दूसरे के रूप में देखने लगता (अन्यदात्मनो पश्यत्) है। इसीलिये वेद में इस वाग्युक्त या वाग्द्वितीय ब्रह्म को 'परा मार्ग' पर चलने वाला (परापथिभिश्चरन्तम्) अहंनाम कहा है और अन्यत्र इसी वाक् को 'परावाक्' तथा इसके द्वारा 'अहं' भाव उत्पन्न होने के कारण, इसी को 'अहंता' भी कहा है[2]। यहाँ ब्रह्म तथा वाक्, शक्तिमान् और शक्ति के पृथकत्व का भाव नहीं होता : इसलिए इस परावाक् की तुलना आगमों की

१—तु. क. सहीदं सर्वंअनिपद्यमानो गोपायति, जै. उ. ब्रा. ३।३७।२

२—बोधपञ्चदशिका ३ ।

पराशक्ति से कर सकते हैं, जिसके विषय में अभिनवगुप्त ने 'तंत्रालोक' में लिखा है :—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव ।

तीसरी अवस्था में ब्रह्म और वाक्, वाच्य और वाचक या व्यंग्य और व्यञ्जक का भेद तो उत्पन्न हो जाता है, परन्तु फिर भी दोनों यामल-रूप में ही रहते हैं —एक को दूसरे से पूर्णतया पृथक करके नहीं देखा जा सकता । इसीलिये इस अवस्था को 'मिथुन' या 'आलिंगनबद्ध स्त्री-पुरुष' अथवा सध्रीची[1] (साथ चलने वाले) कहा गया है । ब्रह्म के दो अर्द्ध-भाग अभी पृथक-पृथक न होकर एक ही में संयुक्त हैं, इसीलिये उसको इस अवस्था में आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन तथा आत्मानन्द कहा गया है[2] । इस अवस्था में शक्ति और शक्तिमान्, वाक् और ब्रह्म परस्पर 'दर्शन' कर सकते हैं ; अतः पहले को 'पश्यन्ती'[3] तथा दूसरे को पश्य[4] नाम दिया गया है । इस समय शक्ति केवल संकल्प रूप में रहती है, जैसा कि 'रत्नत्रय' में कहा है :—

केवलं बुद्ध्युपादानात्क्रमाद्वर्णानुयायिनी,
अन्तः संकल्परूपा तु न श्रोत्रमुपसर्पति ।

चौथी अवस्था में न केवल ब्रह्म और वाक्, वाच्य और वाचक, व्यंग्य और व्यञ्जक तथा पति और पत्नी की भाँति अलग-अलग (विषूची)[5] हो जाते हैं, अपितु एक दूसरे से दूर भागते हैं (साऽस्मादपाक्रामत), वाक् ब्रह्म को, वाचक वाच्य को, व्यञ्जक व्यंग्य को प्रायः छोड़ सा देते हैं, क्योंकि शक्तिमान् के विपरीत शक्ति स्थूलरूप धारण करने लगती है । उदाहरण के लिये यदि मुख से शब्द उच्चारण करने की प्रक्रिया को लें, तो तृतीय अवस्था में यह शक्ति केवल मानसिक अवस्था में स्पष्ट प्रतीत होगी, परन्तु वही इस चौथी अवस्था में आकर प्राण के साथ मिलकर शब्दत्व प्राप्त करने की तैयारी करने लगेगी अतः इसे आगमों में 'मध्यमा' कहा गया है:—

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य वर्त्तते मध्यमाह्वया[6] ।

१—सार्ध और अञ्च (जाना) धातु से निष्पन्न तु. क. सायण भाष्य ; यों तो सध्र यंच और सध्रीची का अर्थ क्रमशः 'सहगामी' और 'सहगामिनी' या पति और पत्नी होता है । २—छा. उ. ७,२५,२ । ३—दे. ऊपर । ४—छा.उ. ७,२६,२ । ५—तु.क. सायण भाष्य । ६—रत्नत्रयम् ७२ ।

पाँचवीं अवस्था में यह एक शक्ति अनेकत्व धारण करती है, शरीर के विभिन्न अंगों में जाकर अनेक क्रियाओं के रूप धारण करती है। एक से होने वाले ये अनेक रूप ही आत्मा और वाक् की 'प्रजा' (संतानें) हैं, जिनका कुछ वर्णन जैमिनीय उपनिषद[1] ब्राह्मण के निम्नलिखित उद्धरण में मिल जायेगा:—

एकोह्येवैष पुत्रो यत्प्राणः। स उ एव द्विपुत्र इति द्वौ हि प्राणापानौ। स उ एव त्रिपुत्र इति। त्रयो हि प्राणोऽपानो व्यानः। स उ एव चतुष्पुत्र इति। चत्वारो हि प्राणोऽपानो व्यानस्समानः। स उ एव पञ्चपुत्र इति। पंच हि प्राणोऽपानो व्यानस्समानः। स उ एव षट्पुत्र इति। षड्ढि प्राणोऽपानो व्यानस्समानः उदानः। स उ ए व सप्तपुत्र इति। सप्त हीमे शीर्षण्याः प्राणाः। स उ एव नवपुत्र इति। सप्त शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ। स उ एव दशपुत्र इति। सप्त शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्चौ नाभ्यां दशमः। स उ एव बहुपुत्र इति। एतस्य हीमाः सर्वाः प्रजाः।

इस बहुमुखी सृष्टि में, आत्मा या ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ता, वह वाक् या शक्ति के स्थूल-सृष्टि रूप में आवृत सा रहता है। अतः उसे इस अवस्था में 'वसानः'[2] कहा जाता है। वह सृष्टि स्थूल रूप में भाषण, प्राणन, गमन आदि कर्मों के रूप में होती है, जिनको वेद में 'अपः' शब्द से व्यक्त किया जाता है। इसी में आवृत होने के कारण अथर्ववेद[3] में स्थूल शरीर का ब्रह्म 'अपोवसानः' (कर्म से आवृत[4]) कहा गया है।

(ख) एकस्वरीय से बहुस्वरीय संगीत—हमारे शरीर में चक्षु, श्रोत्र आदि जो अलग-अलग क्रियायें कर रहे हैं, उनको यदि संगीत मान लें, तो यह कहना पड़ेगा कि हमारे शरीर में अनेक प्रकार के संगीत हो रहे हैं। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि वास्तव में यह विचित्र संगीत एक संपूर्ण शरीर-व्यापी बृहत्तर संगीत के छोटे-छोटे अंगमात्र हैं और पृथक-पृथक अपना अस्तित्व रखते हुए भी, इसी एकस्वरीय संगीत के पूर्णत्व में सहयोग दे रहे हैं। एकस्वरीय संगीत आत्मा है, जिससे उक्त बहुस्वरीय संगीत विकसित होता है। बृहदारण्यक उपनिषद १,३ में चक्षु, श्रोत्र आदि के प्राणों में से प्रत्येक को गाने के लिये कहा जाता है, परन्तु इन सबका गान नश्वर सिद्ध होता है, वह मृत्यु से नहीं बच सकता। अंत में आंगिरस (सारे अंगों का रस) अर्थात् आत्मा गाता है और

१—२,५,२,११।

२—दे. ऋ. वे. १,१६४,३२ ऊ. उ। ३—१०,२,७।

४—तु० क० सायण।

उसका गान मृत्यु से परे सिद्ध होता है। इस अमर संगीत को उपनिषद में स्वर मान कर चक्षु, श्रोत्र आदि संगीतों की बहुमुखी सृष्टि का विकास इसी स्वर से दिखलाया गया है। इसी प्रकार का एक वर्णन छान्दोग्य उपनिषद में भी मिलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ प्रथम अवस्था को ओ३म् कहा गया है। इन दोनों वर्णनों को तुलनात्मक ढंग से इस प्रकार दिखलाया जा सकता है:—

बृहदारण्यक	छान्दोग्य	ऋग्वेद
१—स्वर जो कि उद्गीथसामन् २। का आत्मा (स्वम्) ही है। इस अवस्था में वाक् या शक्ति स्वर-रूप ही (स्वरसम्पन्ना) हो जाती है।	१—ओ३म् अक्षरम्	१—अनिपद्यमान गोपा
२—उद्गीथ इस अवस्था में गान (गीथ) उत्पन्न (उत्तब्धम्) भर ही होता है।	२—उद्गीथ-वाक् या ऋक् को केवल में ग्रहण करने वाला साम (प्राणों का रस आत्मा)	२—परापथिभिश्चरन्तम्
३—साम-इस अवस्था में सा (वाक्) और अम (आत्मा या प्राण साथ साथ जुड़े, हुये होते हैं।	३—साम - ऋचध्यूढं साम, साम ऋक पर आरुढ़	३—सध्रीची
४—ब्रह्म और ब्रह्मणस्पति अथवा वृहती वृहस्पति इस अवस्था में आत्मा और उसकी शक्ति (वाक्) एक दूसरे से पृथक से लगते हैं।	४—बृहस्पति और वृहती	४—विषूची
५—चक्षु, श्रोत्रादि के नाना प्राण जो दोनों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं।	५—चक्षु श्रोत्रादि के अनेक प्राण जो दोनों से उत्पन्न होते हैं।	५—वसानः

इस प्रकार के एक अक्षर ओ३म् या स्वर से जो उद्गीथ प्रारम्भ होता है, वही हमारे स्थूल चक्षु श्रोत्रादि की शक्तियों या प्राणों के रूप में दिखाई पड़ता

है ; जो पहले एक था वही अनेक होकर कर्म करता है ; जो पहले अव्यक्त था वही व्यक्त होकर स्थूल इन्द्रियों का विषय बन जाता है।

(ग) पांक्त पुरुष—सृष्टि की उक्त पाँच अवस्थाओं को दृष्टि में रखकर पुरुष को पाँच प्रकार का कहा जाता है। ऊपर पंचकोशों का वर्णन आ चुका है। तै० उ०[1] में तदनुसार पञ्च पुरुषों का भी वर्णन किया गया है।

(१) इनमें से पहला पुरुष तो यही अन्नरसमय (स्थूल शरीर)[2] है:—

सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।

यदि हम मनोमय आदि को थोड़ी देर के लिये भूल जायँ, तो हम यही कहेंगे कि यही स्थूल-शरीर पुरुष है; यही शिर, हाथ, पैर ही इसकी शक्तियाँ हैं; इसको जीवित रखने वाला, चलाने फिरानेवाला आत्मा यही 'साँस' या प्राण है, क्योंकि यह गया तो सब गया। यहाँ शरीर की नाना शक्तियों में ब्रह्म ऐसा छिपा है कि उसका अभी अभाव सा लगता है।

(२) अन्नरसमय पुरुष का जो आत्मा है, वह प्राणमय पुरुष दूसरा है:—

एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः तेनैष पूर्णः......... तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणपक्षः। अपान उत्तर-पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।

इस पुरुष पर विचार करने से पता चलता है कि अन्नरसमय पुरुष में, जो अनेक शक्तियाँ हैं, वे यथार्थ में स्थूल शिर, हाथ, पाँव आदि की शक्तियाँ नहीं, अपितु उन अंगों में निरंतर व्याप्त प्राण की शक्तियाँ हैं अधिक से अधिक, यदि बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह कहा जायेगा कि केवल 'प्राण' या 'साँस' ही पर्याप्त नहीं है। इसको भी चलाने वाला इसका आत्मा 'मन' (आकाश)[3] है और इसका आधार अन्नमय स्थूल शरीर (पृथिवी)[4] है, क्योंकि इन दोनों के बिना तो वह न रह ही सकता है और न कर्म ही कर सकता है। प्राणमय पुरुष का ज्ञान होते ही कम से कम इतना तो समझ में आ ही जाता है कि प्राण ही आत्मा है, जिसकी शक्ति या वाक् देखना, बोलना, चलना आदि अनेक रूपों में व्यक्त होती है। यदि प्राण को पति और वाक् या शक्ति को उसकी पत्नी मान लें तो हम यह कह सकते हैं कि इस अवस्था पर दोनों एक दूसरे से पूर्णतया अलग जाने जा

१—२, २-६। २—वही, २,२। ३—देखो 'वैदिक देवता'। ४—वही।

सकते हैं—एक तो शरीर के वायु रूप में दूसरे शारीरिक कर्म या आचरण के रूप में।

(३) प्राणमय के भीतर रहने वाला मनोमय आत्मा ही तीसरा पुरुष है:—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः तेनैष पूर्णः.... तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणपक्षः सामोत्तरपक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वांगिरस पुच्छं प्रतिष्ठा।

प्राणमय के संचलन पर सूक्ष्म चिन्तन करने से यह सहज ही पता लग जाता है कि हमारे नाना प्राणों का संचालन और नियन्त्रण करने वाला तत्त्व प्राण से अलग और कोई है। आज का शरीर-शास्त्र और मनोविज्ञान भी यह बात मानते हैं कि ज्ञान-तन्तुओं और मज्जा-तंतुओं में प्रवाहित होने वाली शक्ति के बिना प्राणमयकोश का भी सारा काम बन्द हो जायगा। यही शक्ति मनोमय पुरुष की है। इसकी कुल शक्तियाँ तीन हैं:—ज्ञान, क्रिया और इच्छा, जिनको क्रमशः यजु, ऋक् और साम कहा गया है। इन तीनों को क्रमशः शिर; दक्षिण-पक्ष और उत्तर पक्ष कहा गया है; परन्तु जिस प्रकार शिर और दोनों पक्षों का आधार पुच्छ स्थान होता है, उसी प्रकार इन तीनों, शक्तियों का आधार पराशक्ति है—उसके बिना इसमें किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसी पराशक्ति को अथर्वांगिरस कहा गया है, क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया है, 'परावाक्' सभी अंगों की शक्तियों का सार होने के कारण 'आंगिरस', तथा मनोमय आदि नीचे के कोशों में जाना आरम्भ करने के कारण 'अथर्वा' कहलाती है। इसका एक नाम 'श्रद्धा' भी कदाचित् प्रारम्भ में स्रद्ध (नीचे की ओर जाने वाली), शृद्ध (निष्कासिता) आदि शब्दों की भाँति इसी प्रकार का अर्थ रखता था। यों तो श्रद्धा शब्द 'श्रत्' और धा से निकला है,[1] जिसमें से 'श्रत्' का अर्थ 'गतिशील या मुक्त' प्रतीत होता है[2]। श्रत् इन्द्र[3] की शक्ति का भी नाम है, जो न केवल हमारी इन्द्रियों का काम करती है, अपितु मनोमय का प्रथम रूप भी इसी से उत्पन्न होता है। पराशक्ति को 'श्रद्धा' (श्रत् धारण करने वाली) कहना ठीक ही है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'परा' ही हमारी शक्तियों का बीज है। अतः ऋ० वे० १०,१५१ में श्रद्धा से

१—ऋ० वे० १, ५५, ५; १०३, ५; १०४, ७; २, १२, ५; ८, ७५, २; १०, ३९, ५, १४, ७; १, १५१, ५।

२—तु० क० ऋ० वे० ८, ७५, २।

३—ऋ० वे० १, १०३, ५; १, ५५, ५; १०, १४७, १।

'श्रत्' प्रदान करने के लिये प्रार्थना की गई है[१], और 'श्रद्धा' को मूर्धातत्त्व तथा हृदय-तत्त्व दोनों से संबंध रखने वाली बताया गया है।[२]

परन्तु, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, अथवा साम-यजु-ऋक् शक्तियों का प्रेरक कौन है? मनोमय-पुरुष किसके द्वारा संचालित होता है? वर्तमान प्रयोगात्मक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता। अतः वह 'मनोमय' से परे कोई तत्त्व मानव-शरीर में नहीं मानता; परन्तु यदि हम एकाग्रचित्त होकर सोचें कि अमुक परिस्थिति-विशेष में अमुक भाव या विचार कैसे और कहां से उठ खड़े हुए, तो हमें पता लगेगा कि पहले हमारे भीतर एक लहर सी अथवा महात्माओं के शब्दों में, एक 'पुकार' सी आती है, जो हमारे मन के भीतर मन, भाव या क्रिया को प्रेरित करने वाली वृत्ति को जगा देती है। इसी को 'अन्तरात्मा की पुकार' या 'आदेश' कहते हैं। इसी को 'मनोमय' का आत्मा कहा गया है; यही विज्ञानमय पुरुष है।

(४) मनोमय के भीतर रहने वाला आत्मा ही चौथा पुरुष विज्ञानमय है:—

एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः तेनैष पूर्णः......तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः सत्यमुत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

इस विज्ञानमय पुरुष के दक्षिण और उत्तर पक्ष क्रमशः 'सत्य' तथा 'ऋत' बताये गये हैं। इन दोनों शब्दों के प्रचलित अर्थ अत्यन्त भ्रामक हैं; यहाँ उनसे काम नहीं चल सकता। उपनिषद[३] में लिखा है कि सत्य शब्द के केवल 'स' और 'य' ही सत्य के द्योतक हैं और दोनों के बीच का 'त्' अनृत का वाचक है। इससे स्पष्ट है कि 'सत्य' का अर्थ, प्रचलित अर्थ से विपरीत, अनृतपूर्ण सत्य भी हो सकता है।

वस्तुतः सत्य और ऋत का जोड़ा, आध्यात्मिक प्रसंगों में, प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ रखता है। इनका अर्थ क्रमशः सत्व (being) और भाव (becoming) अथवा सत्ता और विकृति किया जा सकता है। पहला स्थिरता या निष्क्रियता का सूचक है, दूसरा परिवर्तन या विकार का। नाम-रूपात्मक जगत में ये दोनों तत्त्व सापेक्षिक रूपों में ही मिलते हैं, न यहाँ सत्व (being) ही आत्यन्तिक है और न भाव (becoming) ही। अतः आदित्य को सत्य तथा अग्नि को ऋत कहा जाता है; परन्तु अग्नि तथा

१—ऋ० वे० श्रद्धे श्रद्धापयेत् नः १०, १५१, ५।
२—वही १,४ उ० दे० ऊपर 'परा' और देवकोश।
३—बृ० उ० २, ३, १—५; १, ६.३।

उसके प्रकाश में, अग्नि को सत्य तथा प्रकाश को ऋत कहा जाता है[१]। उसी प्रकार यदि सृष्टि या उसकी उपकरणीभूत वाक् को ऋत कहा जाता है, तो स्रष्टा को सत्य कहा जाता है[२] या सत्यमय माना जाता है[३], परन्तु वही स्रष्टा ऋत कहा जाता है, जब उसकी तुलना कारण-ब्रह्म से की जाती है[४]। ऐसे ही स्थूल शरीर की अपार विकारशीलता को देखकर उसको ऋत तथा वीर्य, प्राण, नाम रूप आदि को सत्य कहा जाता है[५]।

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि 'ऋत' शब्द विकार, परिवर्तन या गति-वाची 'भाव' शब्द का पर्याय है, और 'सत्य' शब्द से सत्व के अन्तर्गत उस स्थिरता या अगति का बोध होता है, जिससे ऋत या भाव की गति अथवा विकृति का सूत्रपात होता है। अतः ऋत या भाव (becoming) को यथार्थ में, गतिशील या विकृतिमय सत्त्व (being) कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सत्य और ऋत को एक ही कहा जाता है[६]। प्राणमय तथा अन्नमय में ऋत या भाव (becoming) का इतना अधिकार रहता है कि उसके कारण एकांतिक सत्य का आभास भी नहीं मिल पाता। परन्तु विज्ञानमय में आकर ऋत् 'म्' अर्थात् सुप्त[७] हो जाता है। इसीलिये, इस अवस्था में, ऋत् को मृत (म् + ऋत) कहा जाता है। जब ऋत और सत्य का तादात्म्य हो जाता है, तो सुप्त सत्य (मृत) भी नहीं रह जाता, अतः उसका नाम 'अमृत' (अ-म्-ऋत) हो जाता है।

अतएव विज्ञानमय पुरुष के वर्णन में श्रद्धा को उसका शिर तथा ऋत और सत्य को दो पक्ष कहने से यही अभिप्राय है कि विज्ञानमय कोश की पराशक्ति में मनोमय आदि कोशों के 'श्रत्' (शक्ति) का बीज है और उसमें भाव (becoming) तथा सत्त्व (being) के तत्त्व विद्यमान हैं। परन्तु यह श्रद्धा जिस श्रत् का बीज है, वह इच्छा, ज्ञान, क्रिया भेद से तीन प्रकार का है, अतः इसका

१—अपं वाऽग्निः ऋतमसावादित्यः सत्यम्। यदि भासो ऋतमयं (अग्निः) सत्यम् श० ब्रा० ६, ४, ४ तु० क० वा० सं० १०, ४७ तै० ब्रा० २, १, ११, १०; ३, १२, ९, ३। २—श० ब्रा० १४, ८, ५, १; २, १, ४, १०।

३—ऐ० ब्रा० ३, ६ गो० ब्रा० २, ३, २। ४—श० ब्रा० ४, १, ४, १०।

५—श० ब्रा० ३, ९, ३, २५; १४, ५, १, २५; तै० ब्रा० ३.३, ५, २ तु० क० गो० ब्रा० २, २, २३; श० ब्रा० १४, ४, ४, ३।

६—श० ब्रा० ७, ३, १, २३; १४, ३, १, १८ तै० ब्रा० २, ३।

७—सुषुप्त-स्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा, मा० उ० १, ११

स्वरूप क्या होगा ? आगमग्रन्थों में 'परा' का वर्णन करते हुए प्रायः कहा जाता है कि उसमें इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ उसी प्रकार एकीभूत तथा अव्याकृत रूप में रहती हैं, जैसे मेयूराण्डरस में मयूर के विभिन्न रंग आदि । इसी बात को व्यक्त करने के लिए, उक्त वर्णन में विज्ञानमय पुरुष की आत्मा को योग बताया गया है । हमारी जो आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों में मानों विभिन्न् शक्तियों के रूप में बिखरी सी रहती है, वही विज्ञानमय कोश में एकत्र और एकीभूत होकर 'योग' कहलाती है । विभिन्न इन्द्रियों में विभक्त इन्द्र यहां पर 'योग' हो जाता है[१] । यह हमारी सभी मानसिक वृत्तियों का[२], ऋत का[३], और अमृत का[३] योग है । यहीं पर ऋक्, यजु तथा साम शक्तियाँ मिलती हैं, अतः इसे 'छन्दसाँ योग' भी कहा गया हैं, जिसको जानना अति कठिन है[५] । परन्तु इसको जानना अत्यावश्यक है; क्योंकि इसके बिना 'यज्ञ' सिद्ध[६] नहीं होता । और जो अनूचान ब्राह्मण इस योग को जान लेता है 'मुक्त' हो जाता है, उसे फिर यजमान कहलाने की, यज्ञ करने की अपेक्षा नहीं रह जाती[७] । इसी को 'जिष्णु योग' भी कहा जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिये शरीरस्थ सभी इन्द्र-शक्तियों को युक्त करने का यत्न आवश्यक है[८] ।

यह 'योग' आत्मा यथार्थ में 'आनन्दमय' होता है; इसीलिये 'विज्ञानमय' पुरुष की 'पुच्छ प्रतिष्ठा' महः बतलाई गई है और 'मह' का साधारण अर्थ 'ज्योति' या 'आनन्द' होता है । जिस 'मह' को उक्त पुरुष की 'प्रतिष्ठा' कहा गया है, उसका वास्तविक नाम 'जेष्ठ महः' है, जो ऋत की अनेक धाराओं का मूल-स्रोत है[९], जो विभिन्न इन्द्रिय विशेषों में काम करने वाले इन्द्र का साधारणीकृत रूप है[१०] और जो इन्द्र के सदन में वृद्धि को प्राप्त होने वाला सोम का 'मह'[११] है । यही सौन्दर्यानुभूति की वह अवस्था है, जिसे रस-शास्त्रियों ने 'मधुमती भूमिका' या साधारणीकरण की अवस्था कहा है और जो सविकल्पक-समाधि की समकक्ष है[१२] । इसी 'मह' या

१—ऋ० वे० १, ५, ३, अ० वे० १०, ५, १-६; २०, ६९, १ ।
२—ऋ० वे०, १, १८, ७ । ३—वही, १०, ३०, ११ ।
४—वही ३, २७, ११ । ५—वही १०, ११४, ९ ।
६—वही १, ८, ७ । ७—वही, ८, ५८, १० । ८—अ० वे० १०, ५, ६ ।
९—ऋ० वे० ७, ४३, ४ । १०—वही ८,-६५, ४-७ ।
११—वही ९, ३१, ३, १०, ४३, ७ ।
१२—दे० "सौन्दर्य्यानुभूति" ऊपर ।

'आनन्द' का दूसरा नाम 'प्रिय' भी है, जिसका उदय उक्त 'श्रद्धा' के बिना नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा से इसके उदय के लिए प्रार्थना की जाती है[1]:—

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ।

अतः विज्ञानमय पुरुष के आधार (प्रतिष्ठा) को महः, प्रियं या 'आनन्दमय' कहा जा सकता है:—

(५) विज्ञानमय पुरुष के भीतर रहने वाला 'आनन्दमय' ही पाँचवाँ पुरुष है:—

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तेनैष पूर्णः । प्रियमस्य शिरः । आमोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आनन्दमय पुरुष वही 'योग' है, जो विज्ञानमय का आत्मा कहा जा चुका है और इसका शिर वही प्रियं या महः है, जो उसकी 'पुच्छ प्रतिष्ठा' कहा गया है । जैसा ऊपर देख चुके हैं, योग तथा प्रियं दोनों में एक मात्र आनन्द की अनुभूति रहती है । आनन्दमय पुरुष के दोनों पक्ष आनन्द-वाची आमोद-प्रमोद हैं और उसमें रमने वाला आत्मा भी 'आनन्द' है । अतः आनन्दमय पुरुष को केवल आनन्द-स्वरूप कहा जा सकता है । इसकी 'पुच्छ प्रतिष्ठा' को ब्रह्म कहने से केवल यही अर्थ हो सकता है कि यह आनन्द-स्वरूप पुरुष ब्रह्म ही है । 'हिरण्ययकोश' के वर्णन में हम देख चुके हैं कि यह आनन्दमय ज्योतिर्मय है । यही वह स्वर्ग है, जहाँ अमृतज्योति का उल्लेख किया गया है । विज्ञानमयकोश में यही ज्योति ऋत के संयोग से मृत, गतिवती, या विकृतिमयी हो जाती है; इसीलिए पराशक्ति या श्रद्धा को 'त' (विकृतिमयी या गतिवती) मः (ज्योति) कहा जा सकता है । अतः सत्य, ऋत्, श्रद्धा से युक्त विज्ञानमय का शरीर क्रमशः सत्व, भाव (रजः) तथा तमः से युक्त कहा जा सकता है । इसी दृष्टिकोण से 'परा' को दर्शनों में सत्व, रज, तमः गुणों से युक्त प्रकृति कहा गया है । परन्तु जैसा ऊपर देख चुके हैं, प्रकृति के उक्त तीन गुण भी आनन्दमय में क्रमशः प्रियं, आमोद तथा प्रमोद में परिवर्तित हो जाते हैं, जिससे कि वह केवल आनन्द-स्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है ।

उपर्युक्त पाँचों पुरुषों का पारस्परिक सम्बन्ध चित्र नं० ६ में देखा जा सकता है ।

१—वही १०, १५१, २ ।

(घ) **सम्राज्, स्वराज् तथा विराज्**—पाँच कोशों तथा उनमें रमने वाले पांक्त पुरुष के उपर्युक्त वर्णन से यह बात भली भाँति मालूम हो जाती है कि पांचों कोशों का पुरुष यथार्थ में एक ही है। यद्यपि प्रत्येक कोश में उसका और और स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस पुरुष की उपमा हम उस व्यक्ति से दे सकते हैं, जिसके चारों ओर एक एक करके शीशे के विभिन्न रंग वाले पाँच घर हैं। जिस प्रकार उस व्यक्ति का स्वरूप हर एक शीशे से एक निराले ढंग का ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक ही 'पुरुष' विभिन्न कोशों में भिन्न भिन्न ढंग का प्रतीत होता है। पुरुष के इन पांचों स्वरूपों को तीन स्वरूपों के अन्तर्गत भी रक्खा जा सकता है, जिनको क्रमशः सम्राज्, स्वराज् तथा विराज् कहा जाता है। ये तीनों शब्द 'रज्' से निकले हैं[१] जिसका अर्थ 'दीप्त' होना या प्रकाशित होना है[२]। अतः इनका अर्थ क्रमशः (१) सम्पूर्ण या सम्यक् रूप से प्रकाशित (२) 'स्व' रूप से प्रकाशित तथा (३) विशेष वा विविध रूप से प्रकाशित प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि वेद में ब्रह्मपुरी या हिरण्यय कोश को ज्योतिर्मण्डित कहा गया है और वहाँ अमर-ज्योति की उपस्थिति बतलाई गई है। इसलिये यह कल्पना करना ठीक ही है कि ज्योतिर्मय ब्रह्म की अभिव्यक्ति या व्याहृति होने का अर्थ है 'विभिन्न रूप से प्रकाशित होना।'

वृहदारण्यक उपनिषद के चतुर्थ अध्याय में ज्योतिर्मय सम्राज् का विस्तृत वर्णन मिलता है। वह अव्याकृत, एक, अद्वैत, द्रष्टा, ब्रह्म और सम्राज् है[३]। वह आत्मा की परमगति, परम संपदा, परम लोक और परम आनन्द है[४]। इसके आनन्द का अनुमान निम्नलिखित ढंग से कराया गया है[५]।

(१) मनुष्यों में सर्वसंपन्न और सभी मानुषी भोगों के श्रेष्ठ भोक्ता का आनन्द	—मनुष्यों का परम आनन्द
(२) १०० मनुष्यों के आनन्द	—१ पितरों का आनन्द
(३) १०० पितरों "	—१ गन्धर्व लोक का आनंद
(४) १०० गन्धर्व लोक "	—१ कर्म देवों का "
(५) १०० कर्म देवों "	—१ आजान देवों "
(६) १०० आजान देवों "	—१ प्रजापति लोक "

१—ऋ० वे० ८, १६, १, ५; ६३, २, १; १८८, ५, १८१, १-६, १०, १८९, ३, ऐ० ब्रा० १, ५, ऐ० आ० ५, ३, १ तै० आ० ६, ७, २ ता० ब्रा० ८, ९, २।
२—राज् दीप्तौ, पा० धा० पा० १, ८७४। ३—बृ० उ०० ४, ३, ३२।
४—वही। ५—वही, ४, ३, ३३।

(७)	१०० प्रजापि लोक के आनन्द	—१ ब्रह्मलोक का आनन्द
		—सम्राज् ”

इसी प्रकार की 'आनन्द-मीमांसा' तैत्तिरीय[1] उपनिषद में भी कुछ हेर-फेर के साथ दी गई है:—

(१)	युवा, साधुयुवा, अध्यापक, आशिष्ठ द्रढ़िष्ठ और बलिष्ट का आनन्द	= १ मानुष आनन्द
(२)	१०० मानुष आनन्द	—१ मनुष्य गन्धर्वों का आनन्द
(३)	१०० मनुष्य गन्धर्वो का आनन्द	—१ देव गन्धर्वों का आनन्द
(४)	१०० देव गन्धर्वो ”	—१ पितरों ”
(५)	१०० पितरों ”	—१ आजानज देवों ”
(६)	१०० आजानज देवों ”	—१ कर्म देवों ”
(७)	१०० कर्म देवों ”	—१ देवों ”
(८)	१०० देवों ”	—१ इन्द्र ”
(९)	१०० इन्द्र ”	—१ बृहस्पति ”
(१०)	१०० बृहस्पति ”	—१ प्रजापति ”
(११)	१०० प्रजापति ”	—१ ब्रह्म ”

यही एक अद्वैत सम्राज् या परं ब्रह्म वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, हृदय आदि रूप में नानात्व ग्रहण कर प्रकाशित होता है[2]। परन्तु, वागादि में से कोई भी एक पूर्ण सम्राज नहीं है; वह तो केवल 'एक पाद सम्राज'[3] है। पूर्ण सम्राज् तो अकर्त्ता है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता है, सूंघता हुआ भी नहीं सूँघता है, रस-ग्रहण करता हुआ भी नहीं करता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, सुनता हुआ भी नहीं सुनता है, सोचता हुआ भी नहीं सोचता है, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता है, विज्ञान करते हुए भी विज्ञान का कर्त्ता नहीं है; क्योंकि सम्राज् तो एक और अद्वैत है और देखने, सूंघने आदि व्यापारों के लिये 'अन्य' नहीं तो 'अन्यत् इव' तो विषय रूप में होना आवश्यक ही है[4]। वह तो अविनाशी है, उसमें कोई 'द्वितीय' उससे विभक्त नहीं है। (**अविनाशित्वान्न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्**)और जहां 'अहं' तथा 'इदं' का द्वैत संभव नहीं, वहाँ कौन किसको देखे, सुने, कहे या जाने (**यत्रवाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्य-**

१—२, ८। २—बृ० उ० ४, १, २-७। ३—वही।
४—बृ० उ० ४, ३, २३-३०।

द्रसयेदन्योऽन्यद्वदेददन्यो अन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजनीयात्)[१] हमारे शरीर में ज्ञान और कर्म के जो नाना व्यापार होते हैं, वे 'सम्राज्' में तो नानात्व को छोड़ कर 'एक' प्रकाश या प्रद्युति मात्र में परिवर्तित हो जाते हैं[२] :—

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयतीत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकी भवति न मनुते इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते ।

सम्राज् या ब्रह्म, जब नाना-रूप में प्रकाशित होता है, तभी विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय श्रोत्रमय आदि विभिन्न ब्रह्मों की उत्पत्ति होती है[३]। विविध रूपों में 'राजन' (प्रकाशन) होने से सम्राज को इस रूप में 'विराज' कहा जाता है[३]। यथार्थ में एक सम्राज्' या ब्रह्म को अनेक करने वाली तो उसकी शक्ति 'वाक्' ही है; इसलिए वास्तविक 'विराज (विविध रूप से राजने वाली) तो 'वाक्' ही है[५]। अतएव द्वैत या नानात्व की अवस्था में वाक् को 'विराज' तथा ब्रह्म को 'विराजो अधि पुरुषः' विराट पुरुष या विराज का पति कहा जाता है[६]। जैसा कि ऊपर[७] देख चुके हैं, एक अद्वैत ब्रह्म को द्वैतता तथा विविधता की ओर ले जाने वाली वाक् वास्तव में दूसरी अवस्था (विज्ञानमय) में ही प्रारम्भ हो जाती है, और दूसरी (विज्ञानमय) अवस्था से लेकर पाँचवी अवस्था अन्नमय तक अपना कार्य करती रहती है। परन्तु, जब कि दूसरी (विज्ञानमय) अवस्था में वाक् पुरुष से संयुक्त रहती है, तीसरी से लेकर पांचवी अवस्था तक ये दोनों एक दूसरे से पृथक पृथक होकर नानात्मक हो जाते हैं।

अतः ऊपर कही हुई पाँच अवस्थाओं में से पुरुष दूसरी अवस्था (विज्ञानमय)

१—वही, ३१ । २—वही, ४, ४, २ । ३—वही, ४ ४, ५ ।
४—ऋ० वे० १०, ९०, ५; १८९, ३ ।
५—सा० तै० कामदुहिता धेनुरुच्यते यामाहु वाचं कवयो विराजम् अ० वे० ९; २, ५ या वाग् विराट छा० उप० ४, १, २; वाग्वैविराट श० ब्रा० ३, ५, १, ३४ तु० क० ता० म० ब्रा० २५, ९, ४ ऋ० वे० १, १६४, ४१; अ० वे० ९, १०, २१ ।
६—तु० क० तस्माद्विराडजायत विराजो अधिपूरुषः १, ९०, ५ भ० गी० ११ बृ० उ० ४, २, ३ गो० ब्रा० २, २, ९, श० ब्रा० १४, ६, ११, ३, १, १, १०, ६ इत्यादि । ७—१, ४ क-ग ।

में 'वाग्द्वितीय', परापथिभिश्चरन्तं, 'अहंनाम' आदि कहा जाता है[१]। यहाँ वाक् ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म का 'स्व' कहलाती है[२]। इसलिये यह विज्ञानमय पुरुष 'स्व' से 'स्व' का निर्माण करके 'स्व' के प्रकाश से प्रकाशित होने वाला 'स्वयं-ज्योति'[३] पुरुष कहलाता है। (**स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेनभासा, स्वेन-ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयं-ज्योतिर्भवति**) इस अवस्था में ब्रह्म केवल 'स्व' में ही प्रतिष्ठित होने से[४], 'स्व' के अतिरिक्त उसे और कोई अनुभूति होती ही नहीं[५], वहां तो केवल 'अहम्' के अतिरिक्त कुछ रह ही नहीं जाता[६] (**अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति**)। अतः इस आत्मानन्द 'विज्ञानमय' पुरुष को स्वराज नाम दिया गया है[७] :—

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा दक्षिणतः आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति।

हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि विज्ञानमय पुरुष की एकीभूत अव्याकृत शक्ति मनोमय, प्राणमय तथा अन्नरसमय में नानामयी होकर व्याकृत तथा व्यक्त हो जाती है। वास्तव में मनोमयादि अन्तिम तीन रूपों में ही शक्ति यथार्थ विविधता प्राप्त करती है, अतः इन्हीं अवस्थाओं में पुरुष को 'विराज् पुरुष' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जो ब्रह्म सुषुप्ति (विज्ञानमय कोश) में एक 'स्वराज्' होकर सोता है, वही स्वप्नावस्था (मनोमयकोश) तथा जाग्रतावस्था (प्राणमय तथा अन्नरसमय) में विविध प्रकार से 'राजता' (प्रकाशता) है, नाना प्रकार की क्रियाएँ करता है। माण्डूक्य उपनिषद में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति का आत्मा क्रमशः विश्व, तेजस् तथा प्राज्ञ बतलाया गया है[८]। बृहदारण्यक उपनिषद् में इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा दिया गया है—तैजस्, आत्मा महामत्स्य है, जो विश्व तथा प्राज्ञ रूप दो सरित्कूलों के बीच तैरता हुआ इससे उसकी और उससे इसकी ओर चलता रहता है[९]। परन्तु, इन

१—वही क-ख।
२—श० ब्रा० १, ४, २, १७; २, २, ४, ४; २०, १४, २, का० सं० १२, ५; १७, १ छा० इ० ७, २४, १। ३—बृ० उ० ४, ३, ९।
४—छा० उ० ७, २४, १। ५—वही, अनु। ६—वही, ७, २४ १।
७—वही, अनु। ८—मा० उ० १, ३-११ ९—बृ० उ० ४, ३, १८।

तीनों अवस्थाओं से ऊपर तुरीय या असुप्त अवस्था[१] 'सम्राज्' या पूर्ण अद्वैत ब्रह्म की है, जिसको 'अतिच्छन्दा' भी कहा जाता है, क्योंकि यह अवस्था 'विज्ञानमय' (सुषुप्ति) तक पाये जाने वाली ऋक्, यजु, साम का संयुक्त अव्याकृत रूप अथर्वांगिरस (छन्दस्) का भी अतिक्रमण करके परे पहुँच जाती है। इसका स्वरूप तथा अन्यों से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा गया है कि[२]—"इसका (स्वराज) का अतिच्छन्दा अपहतपाप्मा तथा अभय-रूप है; जिस प्रकार प्रिय स्त्री का आलिंगन करके कोई वाह्य तथा आन्तरिक बात को नहीं जानता उसी प्रकार यह पुरुष 'प्राज्ञ' आत्मा से आलिंगित होकर किसी वाह्य या आन्तरिक बात को नहीं जानता और 'आप्त-काम' अकाम हो जाता है। इसी विषय में कहा गया है कि—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते[३] ।

जैसा सम्राज्, स्वराज् तथा विराज् शब्दों से भी प्रतीत होता है, इन तीनों में पाया जाने वाला व्यापक मूल-तत्व एक ही प्रकाश' है, जिसको उक्त शब्दो में 'राज्' धातु से व्यक्त किया गया है; परन्तु फिर भी इन तीनों में कुछ न कुछ भेद अवश्य है जिसको 'सम्', 'स्व' तथा 'वि' उपसर्गों से प्रगट किया गया है। ऊपर के वर्णन से वह बात स्पष्ट है कि इन तीनों अवस्थाओं में पाया जाने वाला यह 'प्रकाश-भेद' वास्तव में 'विषयीकरण' द्वारा होता हैं। प्रकाशात्मन् सम्राज् स्वयं एक और अद्वैत है, अतः उसमें विषयी और विषय अथवा 'अहम्' और 'इदम्' का भेद नहीं होता, परन्तु 'स्वराज्' अवस्था में वह अपने 'स्व' को ही विषय बना लेता है और उसको एक वाह्य 'इदं' रूप में देखकर 'अहमस्मि' का अनुभव करता है। यही 'स्व' विराज् पुरुष की अवस्था में पहुँचकर 'वि' में परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् 'अहं' रूप 'इदम्' विविध-रूप 'इदं' में बदल जाता है, एक 'स्व' के स्थान पर 'इदम्' का नानारूपात्मक विषय उपस्थित हो जाता है—एक 'विराज्' के स्थान पर अनेक 'विराजानि'[४] हो जाते हैं।

ब्रह्म के एकत्व को अनेकत्व में बदलने वाली ब्रह्म की यह 'विषयी-करण' शक्ति वही 'विराज्' या 'वाक्' है, जो ब्रह्म की 'आत्माभिव्यक्ति' या 'आत्म-प्रसार' करने वाली शक्ति कही गई है। यही आगमों में प्रकाशात्मा परमशिव की 'विमर्श-शक्ति' कहलाती है, जिससे सारे नानारूपात्मक विश्व की सृष्टि होती

१—मा० उ० १, १२; २—बृ० उ० ४, ३, २१,
३—बृ० उ० ४, ४, ७। ४—ऋ० वे० १०, १५९, ६।

दक्षिण पक्षः
उत्तर पक्षः
दक्षिण पक्षः
उत्तर पक्षः
दक्षिण पक्षः
उत्तर पक्षः
दक्षिण पक्षः
उत्तर पक्षः
प्रतिष्ठा
स्थूल दक्षिण पक्षः
स्थूल उत्तर पक्षः
स्थूल पुच्छ प्रतिष्ठा

चित्र नं० ६
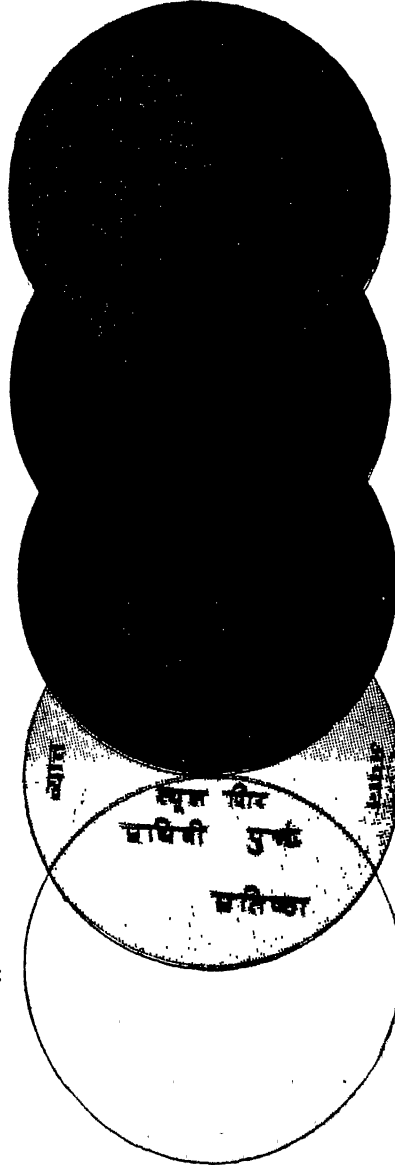
है[1] । 'विमर्श' शब्द के विषय में, आर्थर अवेलाँ का कथन है कि[2]—"यह शब्द 'मृश' धातु से आया है, जिसका अर्थ 'आमर्शन, स्पर्शन, हथिआना' आदि होता है । 'विमर्श' वह है जो हथिआया जा सके, स्पर्श किया जा सके, मनन द्वारा ग्रहण किया जा सके, अर्थात् जो विचार का 'विषय' बन सके । 'प्रधान' और 'प्रकृति' का भी अर्थ है कि जो सामने रक्खा जा सके, प्रत्यक्ष किया जा सके, और जो सामने किया जा सकता है, उसी को 'विषय' कहा जाता है। ये तीनों शब्द (विमर्श, प्रधान, प्रकृति) 'विषयीकरण' के द्योतक हैं ।" अथर्ववेद में भी 'विश्वं-मृशन्ती' विराज का उल्लेख किया गया है[3], जिससे मालूम पड़ता है कि वेद में भी विराज् का 'विषयीकरण' मृश् धातु द्वारा ही व्यक्त किया जाता था ।

(ङ) **विमर्श और माया**—अतः विराज् वाक् को 'विमर्श-शक्ति' कहना अनुचित न होगा । आगमों के शब्दों में, यह एक दर्पण है, जिसमें ब्रह्म अपने 'स्व' को देखता है; यह दर्पण जब एक रहता है, तो ब्रह्म का 'स्व' एक ही प्रतिबिंब डालता है, परन्तु वही जब अनेक रूप हो जाता है, तो उसका 'स्व' नानारूप प्रतिबिंबित होने लगता है—'स्व' बदल कर 'वि' हो जाता है । 'कामकला विलास' में इसका अत्यन्त रोचक वर्णन दिया हुआ है:—

"एक सुन्दर राजा सामने रक्खे हुए दर्पण में देखकर कहता है, 'इस प्रकार मैं ही प्रतिबिंबित हो रहा हूँ' ऐसे ही परमात्मन् अपनी शक्ति में 'स्व' को 'परिपूर्णोऽहम्' के रूप में जानता है; अ (शिव) तथा हम् (शक्ति) का योग 'अहम्' है । 'शिव' ज्ञानशक्ति का द्योतक है और 'शक्ति' 'क्रिया' की; अतः यह संयुक्त 'स्व' (अहम्) ज्ञान तथा क्रिया का योग है । शिव प्रकाश है; 'विमर्श' दर्पण उसके रश्मि जाल से निर्मित है और विमर्श-शक्ति क्रिया-रूप में विकसित होने वाली विस्फूर्णा शक्ति है । ये किरणें मूल चित्त में प्रतिबिंबित होने से यही महाबिन्दु है । जब प्रकाशात्मा शिव विमर्श-दर्पण के संपर्क में आता है, तो उसमें 'पूर्णोऽहम्' शिव प्रतिबिंबित होता है। इस प्रकार पूर्ण 'अहम्' शिव और शक्ति की संधि है। अपनी प्रकाशस्वरूपिणी शक्ति पर जब शिव देखता है, तभी इस 'अहं भाव' का जन्म होता है । इसलिये कहा जाता है कि 'अहं भाव' में प्रकाश 'आत्म-विश्रान्ति' की

१—"विमर्शशक्तिः प्रकाशात्मना परमशिवेन सामरस्य विश्वं सृजति न तु केवला"

२—स० पा० पृ० १७५ ।

३—अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्योति पश्चात् विश्वं मृशन्तीमभिरूपा विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् । (अ० वे० ८, ९, ९)

अवस्था में होता है। अतः श्रुति का वचन है कि 'शक्ति योग से अवर्ण अनेक वर्णों की सृष्टि करती है' (श्वे० उ० ४, १) यह 'पूर्ण-अहम्' चित्तमय होता है।"

उपर्युक्त विमर्श, प्रधान तथा प्रकृति के समान ही शक्ति का एक नाम 'माया' भी है[1]। वह भी 'विमर्श की भाँति विपर्यीकरण तथा भेद-बुद्धि का द्योतक है; क्योंकि उसकी निष्पत्ति 'मा' धातु से हुई है और उसका शाब्दिक अर्थ 'मापने वाली' अथवा अथर्ववेद के अनुसार 'निर्माण करने वाली' प्रतीत होता है[2]। यह माया एक से अनेक होकर 'पुरुष' को 'पुरुरूप' बना देती है और हमारे पिण्डाण्ड में नाना क्रियाओं को करवाती है[3]। पुरुष इस माया का 'मायी' है, परन्तु उन दोनों का सम्बन्ध करण और कर्त्ता का नहीं, अपितु गुण और गुणी या शक्ति तथा शक्तिमान का है[4]। माया सक्रिय और सबल शक्ति है, जो स्वयं अपने 'स्व' में से नानारूपात्मक सृष्टि करती है (बृहती-परिमात्रया मातुर्मात्राभिः निर्मिता[5]) और उसकी सृष्टि तत्सम ही होती है (मायाऽजज्ञे मायया मातली परी[6]) यथार्थ में यह कोई 'कृति' नहीं, अपितु सदृश-परिणाम या आत्म-प्रसार मात्र है। अतः मायी पुरुष की पुरुरूपता[7] भी केवल प्रत्याभासित ही है, वास्तविक नहीं; क्योंकि केवल माया में विकार होता है, जब कि मायी अविकृत ही रहता है।

माया और मायी पुरुष के बीच विभिन्न अवस्थाओं में जो सम्बन्ध रहता है, उसका चित्र माया-भेद सूक्त[8] में भली भाँति दिया गया है। इस सूक्त में माया की पाँच अवस्थायें बतलाई गई हैं, जिनकी तुलना के लिये 'गोपा' (पुरुष) की उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं का वर्णन करने वाला ऋग्वैदिक उद्धरण[9] भी दिया गया है। पाँच कोशों और चार अवस्थाओं के साथ तुलना करते हुए इन तीन अवस्थाओं को चित्र नं० ७ में दिखाया गया है।

१—दे० श० ब्रा० ३, ६, २, २, अ० वे० ३, ८, ९, ५; ऋ० वे० १०, १७७, १-५; १०, ७१, ५ पर नि० १, २०।

२—मीयते अनेन इति माया अथवा दे० अ० वे० ८, ३, ५-बृहती परिमात्रायां मातुर्मात्राभिर्निर्मिता। मायाह् जज्ञे मायाया मातली परि।

३—ऋ० वे० १, ११, ७, ३३; १०, ५१, ५; १५१, ९; ३, ३४, ६; ६०, १; ५, ३०; ६, ४४, २; ७८, ६०; ६, ४७, १८, ६३, ५; ८, १४, १४; १०, १४७, २।

४—अ० वे० ८, ९, ५ आदि।

५—वही।

६—वही।

७—दे० ऋ० हे० १०, १४७, २।

८—ऋ० वे० १०, १७७।

९—ऋ० वे० १, १६४, ३१।

यहाँ पर स्थूल-शरीर की शक्ति को माया कहा गया है, जिससे पुरुष (पतंग) ऐसा आवृत रहता है कि वह कहीं दिखलाई ही नहीं पड़ता; इसको केवल 'विपश्चित' ही अपने हृद या मन में देख सकता है (पतंगमक्तमसुरस्य मायया। हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः) स्थूल शरीर की शक्ति का पूर्वरूप वह 'वाक्' है जिसे पतंग मन द्वारा धारण करता हुआ बताया गया है (पतंगोवाचंमनसा विभर्ति)। इन दोनों, शक्तियों (स्थूल और सूक्ष्म शरीर की) शक्तियों का बीज विज्ञानमय-कोश या कारण-शरीर में होता है। अतः इसकी शक्ति को गर्भस्थ 'वाक्' कहा गया है, जिसको बोलने वाले पुरुष का नाम गन्धर्व (तां गन्धर्वो अवदद्गर्भे अन्तः) है। 'विज्ञानमय' यथार्थ में हिरण्ययकोश (आनन्दमय) की गर्भावस्था है, जो मनोमयादि में जन्म लेकर बढ़ता है, विकसित और प्रसूत होता है, अतएव इसी को हिरण्य-गर्भ[1] भी कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद[2] के अनुसार भी 'अहंता' अनुभव कराने वाला विज्ञानमय-गर्भस्थ वामदेव है, जब कि आगमग्रन्थों[3] में इसकी शक्ति को 'परा वाक्' या वामा कहा गया है, जो मानों नाना-रूपात्मक सृष्टि को अपने में से 'वमन' कर देती है :—

आत्मनः स्फुरणं पश्येत् यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥
बीजमावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी।
वामा विश्वस्य वमनादंकुरतां गता॥

उक्त गर्भस्थ 'वाक्' की उपस्थिति 'समुद्र' में बतलाई जाती है, जहाँ केवल 'कवियों' की ही पहुँच हो सकती है[4]। यह समुद्र[5] और कुछ नहीं, केवल 'विज्ञान-मय' का ही नाम है। मनोमयादि की अनेक शक्तियां जो इससे उत्पन्न होती हैं और इसी में लीन होती हैं, उनकी कल्पना जल धाराओं के रूप में की जाती हैं, तो उनके उद्भव तथा लय के स्थान विज्ञानमय को भी समुद्र[6] कहा जाता है, जिसका रोचक वर्णन वेदों में अनेक स्थलों पर आता है[7]। यह एक समुद्र है जिससे 'भूरि-

---

१—ऋ० वे० १०, १२१, १।
२—१, ४, १० तु० क० ऋ० वे० ४, २६, २७।
३—योगिनी-हृदय १, ३६-३७।
४—समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते; ऋ० वे० १०, १७७, २०।
५—दे० "आपः" आगे। ६—तु० क० प्र० उ० ६, ५ आदि।
७—ऋ० वे० १०, ५, ४, ५८; १०, १८, १०, १९०, आदि।

जन्माहृद'[१] निकलते हैं, एक ऋतस्य[२] पद है जिसको कविगण पीते हैं, एक गुहा है, जिसमें नानारूपात्मक जगत् के सभी 'पराणि नामानि'[३] स्थित हैं—और जिसमें 'ऋतायिनी मायिनी'[४] शक्ति है, जो 'शिशु' को बनाकर (मित्वा) बढ़ाती हैं, एक चर तथा अचर विश्व की नाभि है; जिसके कवि का 'तन्तु' मन द्वारा बुना जाता[५] है। यहाँ 'विज्ञानमय' तन्तुनाभि[६] (मकड़े) से 'मनोमय' रूप तन्तु का प्रसार अभिप्रेत है, जिससे 'सृष्टि' की कल्पना अत्यन्त सुन्दरता से व्यक्त हो जाती है।

गर्भ (समुद्र) की 'ऋतायिनी मायिनी' के पश्चात् 'अमृत पद' की 'द्योतमाना मनीषा' आती है। जैसा ऊपर[७] वर्णन हो चुका है, अमृतपद और ज्योर्मण्डित हिरण्यय (आनन्द) कोश एक ही है। अतः यह 'मनीषा' संपूर्ण ज्योति 'सम्राज्' का प्रकाश ही है। कभी कभी इस अवस्था की वाक्' (शक्ति) को कद्रीची (कहाँ जाने वाली) कहा जाता है, क्योंकि 'विज्ञानमय' तक रहने वाला वाक् और ब्रह्म अथवा 'अवर' और 'पर' का द्वैत यहां समाप्त हो जाता है तथा केवल 'एक' अवशिष्ट रह जाता है, जिसको यदि ब्रह्म कहा जाय, तो प्रश्न होता है कि परा (वाक्) कहां गई[८] ? वास्तव में अब तो केवल एक 'ज्योति' रह जाती है, चाहे उसे सम्राज् कहो या द्योतमाना 'मनीषा'; ब्रह्म कहो या वाक्। अतः उसको 'ऋजु विमर्षिणी' के शब्दों में परमशिवस्वरूपा वाक् (मातृकां परावागात्मावाहतभट्टारकपरम-शिवस्वरूपां षट्त्रिंशतत्त्व प्रसरणहेतुभूतां संविदामित्यर्थः) कह सकते हैं जो विष्णु-पुराण में अग्नि तथा उससे प्रकाश के समान ब्रह्म से अभिन्न बतलाई गई है: —

एकदेशस्थितस्याग्रे ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा,
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथैतदखिलं जगत्।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इस अवस्था में आकर माया का विषयीकरण नहीं रह जाता, क्योंकि यहां तो 'अन्यदिव' का भी द्वैत नहीं रह जाता। यहाँ आकर विमर्श-शक्ति का 'विमर्शण' प्रकाश में परिवर्तित हो जाता है।

१—ऋ० वे० १०, ५, १। २—वही, २। ३—वही, ३।
४—वही, ३। ५—वही ३। ६—दे० श्वे० उ० ६, १०।
७—दे० "सौन्दर्य्यानुभूति।" अतः परेण परस्मोपरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौर-दस्थात्।
८—सा कद्रीचीकं स्विदर्धं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अन्तः
(ऋ० वे० १, १६४, १७)

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड

१—मूल-सिद्धांत

सादृश्य और एकता—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' एक छोटी-सी कहावत है, जो कि साधारण बोल चाल में भी बहुत चालू है। परन्तु, इस गागर में जो सागर भरा हुआ है, वह शायद ही किसी और इतने छोटे वाक्य में हो। एक दृष्टि से इसमें भारत की सारी दार्शनिक परंपरा का सार रक्खा हुआ है—

सारा विश्व एक ब्रह्माण्ड है, और मनुष्य का पिण्ड उसी का एक छोटा-सा संस्करण है। इसका अर्थ यह है कि जो वस्तुएँ एक में हैं, वे दूसरे में भी हैं। व्यष्टि और विश्व में यह सादृश्य हमारे दर्शन का मूल आधार है, जो प्राचीनकाल से अबतक वैसा ही चला आ रहा है। कठोपनिषद में लिखा है—"**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**" इसी को दूसरे शब्दों में 'विश्वसार तन्त्र' ने दुहरा दिया है—"**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत क्वचित्।**" तांत्रिक दर्शन[१] के अनुसार तो ब्रह्माण्ड के सात लोक पिण्डाण्ड के सप्त चक्रों के विस्तार मात्र हैं।

वैदिक साहित्य में तो सादृश्य का यह सिद्धान्त इतना अधिक है कि इसको ध्यान में रक्खे बिना वेद को बिलकुल ही नहीं समझा जा सकता। उपनिषदों में तो यह सिद्धान्त पूर्णतया स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। हमारे शरीर में जो प्राण है, ब्रह्माण्ड में वही आदित्य है[२], इन दोनों का विभाजन इस प्रकार[३] है:—

१—दे० षट्चक्रनिरूपण; आनन्द-लहरी (पं० र० अनन्त शास्त्री द्वारा संपादित) पृ६, ८५; शुक-संहिता आदि तु० क० 'सर्पेन्ट पावर' पृ० १६९, १८३। २—प्र० उ० १, ८। ३—वही, ३, ४-९।

प्राण	पिण्ड	ब्रह्माण्ड
अपान	वायु और उपस्थ का प्राण	पृथिवी
प्राण	चक्षु, श्रोत्र, मुख, नाक का प्राण	पृथिवी
समान	मध्य शरीर का प्राण	आकाश
व्यान	सारे शरीर की नाड़ियों का प्राण	वायु
उदान	उर्ध्व भाग का प्राण	तेज

तैत्तिरीय उपनिषद[1] में ऐसे ही कई रोचक समीकरण दिये गये हैं, जिनसे उक्त सादृश्य स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है:—

(१) **महासंहिता :—**

स्थान	पूर्वरूप	उत्तर रूप	संधि	संधान
(क) अध्यात्मम्	अधर हनुः	उत्तरा हनुः	वाक्	जिह्वा
(ख) अधिलोकम्	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
(ग) अधिज्योतिषम्	अग्नि	आदित्य	आपः	वैद्युत
(घ) अधिविद्यम्	आचार्य	अन्तेवासी	विद्या	प्रवचन
(ङ) अधिप्रजम्	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन

(२) **व्याहृतियाँ:—**

स्थान	भूः	भुवः	स्वः	महः
(क) अध्यात्मम्	प्राण	अपान	व्यान	अन्न
(ख) अधिलोकम्	पृथिवी	अंतरिक्ष	द्यौ	आदित्य
(ग) अधिज्योतिषम्	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा
(घ) अधिविद्यम्	ऋक्	यजु	लोम	ब्रह्म

१—१, ३-७।

(३) पांक्त पुरुषः—

	१	२	३	४	५
अध्यात्मम्	प्राण	व्यान	अपान	उदान	समान
	चक्षु	श्रोत्र	मन	वाक्	त्वक्
	चर्म	मांस	स्नायु	अस्थि	मज्जा
अधिभूतम्	पृथिवी	अंतरिक्ष	द्यौ	दिशायें	अवांतरदिशायें
	अग्निः	वायु	आदित्य	चन्द्रमा	नक्षत्र गण
	आपः	ओषधियां	वनस्पतियां	आकाश	आत्मा

इस प्रकार प्राणन आदि विभिन्न क्रियाओं के दृष्टि-कोण से पांक्त पुरुष का वर्णन करने के पश्चात्, उसके पूर्ण व्यक्तित्व को ध्यान में रखकर उसके आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय ये पाँच भेद बतलाये गये हैं[1], जिनका वर्णन प्रथम भाग में हो चुका है।

छान्दोग्य उपनिषद[2] में 'ओ३म्' उद्गीथ का 'उपव्याख्यान करते हुए कहा गया है कि भूतों का पृथिवी, पृथिवी का आप, आप का ओषधियाँ, ओषधियों का पुरुष, पुरुष का वाक्, वाक् का ऋक्, ऋक् का साम, और साम का उद्गीथ रस है।' यह उद्गीथ ऋक् और साम का 'मिथुन-रूप'[3] है, अतः ऋच्यध्यूढं साम कहलाता है। इस साम का रूप पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में एक सदृश ही है:—

ब्रह्माण्ड का ऋच्यध्यूढं सामः—

ऋक् (सा)	—साम (अम)	= साम
पृथिवी	अग्नि	= "
अन्तरिक्ष	वायु	= "
द्यौ	आदित्य	= "
नक्षत्र	चन्द्रमा	= "
आदित्य की शुक्लता	आदित्य की नीलिमा	= "

१—तै० उ० २, २-५। २—१, १, २। ३—छा० उ० १०, १, १, ५।

पिण्डाण्ड का ऋच्यध्यूढं सामः--

ऋक् (सा)	--साम (अम)	= साम
वाक्	प्राण	,,
चक्षु	आत्मा	,,
श्रोत्र	मन	,,
चक्षु का शुक्ल	चक्षु का नील	,,

ब्रह्माण्ड[1] में इस साम का सा (ऋक) और अम (साम) क्रमशः पृथिवी-अग्नि, द्यौ--आदित्य, नक्षत्र-चन्द्रमा तथा आदित्य की शुक्लिमा-नीलिमा के 'मिथुन' में देखा जा सकता है, जबकि पिण्डाण्ड[2] में वह वाक्-प्राण, चक्षु-आत्मा, श्रोत्र-मन तथा आंख की शुक्लिमा-नीलिमा के संयोग में विद्यमान है। साम-गान में हिंकार प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन कुल पांच अवस्थायें होती हैं। अतः उक्त ऋच्यधूढं साम को भी पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में पंचविध साम के रूपों में वर्णन किया है। हमारे शरीर में साम की उक्त अवस्थायें क्रमशः प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन के रूप में हैं, तो ब्रह्माण्ड में भी वे विभिन्न क्षेत्रों में उसी प्रकार वर्तमान हैं।

साम	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
लोकेषु	पृथिवी	अग्नि	अन्तरिक्ष	आदित्य	द्यौ
वृष्टौ	पुरोवात	मेघ	वर्षा	विद्योतन-गर्जन	उद्ग्रहण
सर्वासु अप्सु	मेघ	वर्षा	प्राच्यस्पंदन	प्रतीच्यस्पंदन	समुद्र
ऋतुषु	वसन्त	ग्रीष्म	वर्षा	शरत्	हेमन्त
पशुषु	अजा	अवय	गावः	अश्वाः	पुरुष

इसी प्रकार साम गान की सातों अवस्थाओं की दृष्टि से पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में ही सप्तविध साम की कल्पना की गई है, जिसका वर्णन भी पंचविध साम

१--वही, १, १, ६। २--वही, १, १, ७। ३--वही, २, १-८।

चित्र नं० ७

१—ब्रह्म	सम्राज् (३)	स्वराज (२)	विराट पुरुष (१)		
२—अवस्था	तुरीय (४)	सुषुप्ति (३)	स्वप्न (२) । जागृत (१)		
३—शरीर	अनिपद्यगान (४)	कारण (३)	सूक्ष्म (२) । स्थूल (१)		
४—गोपा	अनिपद्यमान (४)	३-परापथचारी । २-सध्रीची	१—वसानः		
५—माया	अमृत पद में द्योतमाना स्वर्यमनीषा (४)	समुद्र (गर्भ) में गन्धर्व की वाक् (३)	हृद (मन) की वाक् (२)	पतंग (आत्मा) को आवृत करने वालीअसुरमाया	
६—वाक् आगम	आत्मा	परा । पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी	
७—कोश	आनन्दमय	विज्ञानमय	मनोमय	प्राणमय	अन्नमय
८—पांक्त पुरुष	"	"	"	"	"

के समान ही विभिन्न क्षेत्रों में पृथक पृथक किया गया है; उदाहरण के लिये यहां उसमें से दो वर्णन दिये जाते हैं:—

(१) **लोमा हिंकारस्त्वक् प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जानिधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमंगेषु प्रोतम् ।**

(२) **अग्निर्हिंकारो पायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहार चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ।**

इसी तरह जैसा कि इसी भाग में आगे दिखाया गया है, वैदिक दर्शन के प्रत्येक अंग में पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का सादृश्य रक्खा गया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि जो पारिभाषिक शब्द केवल आध्यात्मिक जगत् के थे, उनका प्रयोग आधिभौतिक जगत् के तथ्यों के लिये होने लगा, तथा जो प्रारम्भ में केवल ब्रह्माण्ड की वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होते थे, उससे पिण्डाण्ड की बातें व्यक्त की जाने लगीं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित श्लोक में सामाजिक 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' का प्रयोग आध्यात्मिक प्रसंग में उपस्थित किया जा सकता है:—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।

इस प्रकार के प्रयोगों के कारण ही वेदों की दुरूहता बहुत बढ़ जाती है और कभी कभी तो ऐसा होता है कि शब्दों के प्रकृत अर्थों से प्रसंग-विशेष में कोई अभिप्राय ही नहीं सिद्ध होता। ऋग्वेद १, १६४ के नीचे दिये हुए अंश में त्रैष्टुभ, गायत्र, जगती आदि का प्रयोग इसी तरह का एक नमूना है:—

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा विविशन्ते सुवते काधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्ने तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ।
यत्र गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभादवा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत तद् विदुस्ते ।
गायेत्रेण प्रतिमिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमीते सप्तवाणीः ।
जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्त्रि आहुततो मह्मा प्ररिरिचे महित्वा ।

(ख) **दोनों की एकता**—उपर्युक्त सादृश्य-सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम अथवा कारण पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की एकता है । अन्न, आपः और तेजस् के जिन त्रिवृत संयुक्त तत्वों से मन, प्राण तथा वाक् का निर्माण हुआ है, उन्हीं से आदित्य

और अग्नि का[1]। हमारे शरीर में जो वाक्, मन, चक्षु आदि शक्तियाँ हैं, वे यथार्थ में ब्रह्माण्ड की शक्तियों का ही रूपान्तर है; इसी बात को ऐतरेय उपनिषद[2] में एक बड़े अच्छे रूपक द्वारा व्यक्त किया गया है; सारांश नीचे दिया जाता है:—

पहले अकेला आत्मा ही था। उसने अम्भ, मरीची, मर और आप: की सृष्टि की। आप: से उसने एक 'पुरुष' बनाया; उसके भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ प्रकट हुईं, जिनसे निम्न प्रकार 'ब्रह्माण्डीय' देवता निकले:—

अंग	इन्द्रिय-शक्ति	ब्रह्माण्डीय देवता
मुख	वाक्	अग्नि
नासिका	प्राण	वायु
आँख	चक्षु	आदित्य
कान	श्रोत्र	दिक्
त्वचा	लोम	ओषधि-वनस्पतियाँ
हृदय	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
शिश्न	रेतस्	आप:

ये देवता उत्पन्न होने के बाद एक बड़े 'अर्णव' में गिर पड़े। उनको भूख-प्यास तंग करने लगी। तब उन्होंने आत्मा से कहा—हमें आयतन (स्थान) चाहिये, जिसमें रहकर हम 'अन्न' खायें। गाय और घोड़ा उनके सामने बारी-बारी से लाये गये, परन्तु उनको वे पसन्द नहीं आये। जब मनुष्य लाया गया तब वे बोल उठे 'यह सचमुच बहुत अच्छा है।' सब देवता एक एक करके उसके अंगों में घुसकर विभिन्न इन्द्रिय-शक्तियों के रूप में रहने लगे:—

देवता	अंग	इन्द्रिय-शक्ति
अग्नि	मुख	वाक्
वायु	नासिका	प्राण
आदित्य	आँख	चक्षु
दिक्	कान	श्रोत्र
ओषधि-वनस्पतियाँ	त्वचा	लोम
चन्द्रमा	हृदय	मन
मृत्यु	नाभि	अपान
आप:	शिश्न	रेतस्

१—छा० उ० ६, २-६। २—१, १-२।

पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के रचना-तत्वों और शक्तियों (देवताओं) की एकता से, दोनों के 'पुरुषों' (पुर में रहने वालों) की एकता दिखाई दी। अतः कहा जाता है[१] कि मानव शरीर का प्राण पुरुष वही है, जो आदित्य का। जो पुरुष हमारी अन्तरात्मा होकर हमारे शरीर में बैठा है, वही 'सहस्त्रशीर्षा' सहस्त्राक्ष तथा सहस्त्र-पाद होकर सारे विश्व के भीतर और बाहर है[२]। यही ब्रह्म[३] अमृत का स्वामी है, इसी का 'भूत' और 'भव्य' सब कुछ है। वह नवद्वार वाली पुरी का रहने वाला देही है और चर-अचर सभी का वशी है[४]।

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।

'अन्न' के वर्णन[५] में भी आध्यात्मिक और आधिभौतिक जगत् की एकता का सिद्धान्त ऐसा ही मिलता है। सात अन्नों में से एक तो यही साधारण अन्न है, दो 'हुत' तथा 'प्रहुत' देवों के पास हैं। एक 'पय' है जो पशुओं के पास है। और शेष तीन वाक्, मन तथा प्राण हैं, जो आत्मा के पास हैं। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का आत्मा एक होने से, ये तीनों अन्न भी दोनों में विद्यमान हैं। पिण्डाण्ड में देखना सुनना आदि से लेकर काम, संकल्प विचिकित्सा आदि तक मन के अन्तर्गत आते हैं; जो भी शब्द बोला जाता है वह 'वाक्' है और प्राण में न केवल प्रसिद्ध पांच प्राण सम्मिलित हैं बल्कि अन्न भी हैं। साधारणतया विज्ञातमात्र वाक्, विजिज्ञास्य मात्र मन और अविज्ञात प्राण है। ब्रह्माण्ड में इन तीनों की स्थिति इस क्रम से बतलाई गई है:—

वाक्	मन	प्राण
पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक
ऋक	यजु	साम
मनुष्य[६]	पितर	देव[६]
माता	पिता	प्रजा

१—तै० उ० ३, १० बृ० उ० २—श्वे० उ० ३, ११-१४ ३—वही, अनु
४—वही ३, १८। ५—बृ० उ० १, ५।
६—बृहदारण्यक उपनिषद में देव, पितर मनुष्य दिया है; परन्तु उसी उपनिषद में कहा गया है कि जो विज्ञात है, वह वाक् है, जो विजिज्ञास्य है वह मन है * और जो अविज्ञात है, वह प्राण है।' अतः मनुष्य को 'पृथिवी आदि' *

उक्त[1] तीनों (वाक्, मन और प्राण) के शरीर, ज्योति तथा रूप भी बतलाये गये हैं:—

अन्न	शरीर	ज्योति	रूप
वाक्	पृथिवी	अग्नि	अग्नि
मन	द्यौ	आदित्य	आदित्य
प्राण या इन्द्र	आप:	चन्द्र:	चन्द्र:

जैसे पिण्डाण्ड का प्राण, अपान आदि वायु में विभक्त हैं और उसमें प्राण श्रेष्ठ है, उसी प्रकार यह आधिभौतिक प्राण (इन्द्र) भी आदित्य वायु आदि सभी देवताओं में विभक्त प्रतीत होता है, जिनमें से वायु श्रेष्ठ है क्योंकि वह प्राण की भाँति 'अनस्तमिता देवता' है ।

(ग) **समाज के तत्त्व**—ऊपर जिस सादृश्य तथा एकता का उल्लेख किया गया है, वह पिण्डाण्ड, ब्रह्माण्ड तथा समाज में भी दिखाई पड़ती है । अतः हम देखते हैं कि यजुर्वेद[2] में उसका एक सुन्दर वर्णन पिण्डाण्ड के रूपक द्वारा किया गया है जो उक्त सादृश्य का अच्छा नमूना है:—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि
राजा मे प्राणोऽमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाक् महो मनो मन्यु स्वराड् भामः ।
मोदाः प्रमोदा अंगुलीरंगानि मित्रं मे सह ॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्मवीर्यम्,
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥७॥
पृष्ठो मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाञ्च श्रोणी ।
उरू अरत्नी जानुनी विशोमेऽङ्गानि सर्वतः ॥

अर्थात श्री मेरा शिर, यश मुख तथा केश और श्मश्रु प्रकाश है । राजा अमृत प्राण, सम्राट्, चक्षु और विराट कान है । भद्रता ही मेरी जिह्वा, महत्ता मेरी वाक्, मन्यु मेरा मन तथा स्वराट् मेरा तेज है । मोद-प्रमोद मेरी अँगुलियाँ और

* **विज्ञात सूची तथा देवों को द्युलोक आदि अविज्ञात सूची में रखना उपयुक्त लगता है । आगे विभिन्न लोकों के निवासियों का जो वर्णन दिया गया है, उससे भी हमारे मत की पुष्टि होती है ।**

१—बृ० उ० १, ५, १२ ।   २—२०, ५-८ ।

अंग हैं, तथा शक्ति ही मेरा मित्र है। इन्द्र-बल ही मेरे बाहू हैं। कर्म और वीर्य ही मेरे हाथ हैं तथा क्षत्र ही मेरे आत्मा तथा उर हैं। राष्ट्र मेरी पीठ, पेट, स्कंध, ग्रीवा, नितम्ब, जंघा, अरनी तथा घुटना है और जनता ही मेरे समस्त अंग प्रत्यंग हैं।

समाज-शरीर के उक्त वर्णन से पिण्डाण्ड तथा समाज का ही सादृश्य प्रकट होता है; परन्तु ब्रह्माण्ड और समाज का सादृश्य भी बहुत जगहों पर दिखलाया गया है। समाज में सैनिक शासक आदि 'क्षत्र' हैं, तो वनस्पतियों में न्यग्रोध[१], बीजों में व्रीहि[२], ओषधियों में दूर्वा[३] तथा खनिज पदार्थों में 'हिरण्य'[४] एवं अरण्य-पशुओं में व्याघ्र[५] क्षत्र हैं। जैसे समाज में ब्रह्म, क्षत्र, विश तथा शूद्र वर्ग हैं, वैसे ही आधि-भौतिक[६] देवताओं में भी हैं, और विभिन्न लोकों तथा देवताओं की शक्ति का नामकरण[७] भी ब्रह्म, क्षत्र आदि से किया गया है।

सादृश्य-सिद्धांत के साथ एकता का सिद्धांत भी पाया जाता है। अतः जो ब्रह्म, पिण्डाण्ड में, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के रूप में अपने क्षत्र आदि तत्त्व को विकसित करता है, वही मानव-शरीरों में भी अत्म-प्रसार करता है। बृहदारण्यक उपनिषद का नीचे लिखा हुआ उद्धरण[८] स्पष्ट रूप से इस बात की पुष्टि करता है:—

तदेतद्ब्रह्मक्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्मा भवद्ब्राह्मणो।
मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्माद—
ग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यांहि रूपाभ्यां
ब्रह्माभवत्।

(घ) **सादृश्य-एकता-सिद्धांत का महत्व**—पिण्ड, ब्रह्माण्ड तथा समाज में जो सादृश्य तथा एकता भारतवर्ष में देखी गई, उसने यहाँ के साहित्य और दर्शन को एक विचित्र ढांचे में ढाल दिया। इसने हमारे जीवन का दृष्टिकोण ऐसा निराला बना दिया कि उसकी समता हमें संसार में नहीं मिलती। इसके अनुसार 'व्यक्ति'

१—क्षत्रं एतद्वनस्पतिनां यन्न्यग्रोधधः, ऐ० ब्रा० ८, ८।
२—वही, ८, १६। ३—वही ८, ८।
४—श० ब्रा० १३, ३, २, १७। ५—ऐ० ब्रा० ८, ६।
६—बृ० उ० १, ४, ११-१३।
७—ऋ० वे० ८, २४, १; २४, ८; ८, ३५, १६, १७७; ६६, ११; ३४, ११; १, १६०, ५०; १५७, २; ६, १३६, १ आदि।
८—बृ० उ० १, ४, १५।

की कोई सत्ता नहीं है; वह एक मानव-समाज का अंग है और उसके बाद विराट् विश्व-रूपी महासागर का एक बुद्बुद् है। अतः जो साहित्य और दर्शन इस बात को ध्यान में नहीं रखता, वह जीवन की पूर्णता को लक्ष्य नहीं बना सकता; उसका दृष्टिकोण एकांगी ही रहता है। संस्कृत के पुराने साहित्य पर एक सरसरी दृष्टि डालने से भी शायद इस बात की सच्चाई सिद्ध हो सकती है। भारतीय दर्शन के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि वह अत्यधिक व्यक्तिवादी है; परन्तु यद्यपि यह आक्षेप परवर्ती काल के मत-मतान्तरों के विषय में बहुत अंशों में ठीक है, फिर भी आरम्भिक विकासोन्मुख दर्शन के विषय में यह बिल्कुल ठीक नहीं है। जैसा इस ग्रन्थ में आगे दिखलाया गया है, वैदिक दर्शन में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को कभी नहीं भुलाया गया है। जिस सादृश्य तथा एकता का उल्लेख यहाँ किया गया है, उसी के आधार पर वैदिक-दर्शन का क्रियात्मक रूप बना, जिसका व्यवस्थित रूप धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों में मिलता है। स्वयं वैदिक-साहित्य में भी इस प्रकार के विचार बिखरे पड़े हैं। उक्त सादृश्य तथा एकता का सबसे बड़ा उदाहरण तो 'पञ्चमहायज्ञ' है, जो प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन करने पड़ते थे, और जिसमें न केवल देवताओं के प्रति कर्तव्य का समावेश है, अपितु मनुष्यों तथा जीव-जन्तुओं के प्रति कर्तव्य का भी।

जैसा देख चुके हैं, पिण्ड, ब्रह्माण्ड तथा समाज का उक्त सम्बन्ध वैदिक साहित्य में इतना स्पष्ट है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यथार्थ में, इस बात को ध्यान में रक्खे बिना वेद-मन्त्रों का अर्थ करना व्यर्थ है। इसी दृष्टिकोण से अनभिज्ञ रहने के कारण ,वेदों के कई स्थलों को 'मूर्खतापूर्ण' कहा गया है और वैदिक साहित्य को आदिम, अर्द्ध-सभ्य या असभ्य लोगों का साहित्य समझा गया है।

यदि उक्त सादृश्य और एकता को ध्यान में रक्खा जाता, तो कदाचित् उक्त विद्वानों को वेदों के विषय में ये अपशब्द न कहने पड़ते। आगे हम देखेंगे कि वैदिक देवता, यज्ञ, सृष्टि-क्रम आदि सभी कुछ इसी सिद्धान्त की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप में समझे जा सकते हैं।

२—वैदिक-देवता जन्म, जनक और जननी

(क) उत्पत्ति—कठोपनिषद[1] में लिखा है कि जिसमें से सूर्य का उदय होता है, और जिसमें उसका अस्त होता है, उसी के भीतर ही सारे देवता आ जाते हैं:

१—२, १२, ९ ।

उसके बाहर या परे कोई नहीं जाता। अन्यत्र इसी श्लोक को उद्धृत करते हुए बतलाया[1] गया है कि जिसमें से सूर्य उदय होता है और जिसमें अस्त होता है, वह प्राण ही है और उस प्राण के अन्तर्गत पिण्डाण्ड में न केवल प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान आते हैं, अपितु इन पाँचों में रहने वाला 'अन'[2] तथा वाङमय और मनोमय पुरुष भी आता है। इसी प्राण के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में इन्द्र, इन्द्र बैकुण्ठ[3], अग्नि, आदित्य, चन्द्र तथा वायु आदि सभी आते हैं। वह स्वपिति[4] नाम का विज्ञानमय पुरुष है, जिससे सारे प्राण, सारे देव, सारे लोक तथा सारे भूत उसी प्रकार निकलते हैं, जिस प्रकार मकड़े से जाला तथा अग्नि से चिनगारियाँ निकलती[5] हैं:—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

जहाँ तक पिण्डाण्ड का सम्बन्ध है, प्रथम भाग में यह बात स्पष्ट हो गई है कि 'विज्ञानमय' पुरुष, मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय का बीज या गर्भ है और वह सभी चक्षु प्राण आदि शक्तियों के भीतर विद्यमान हैं,। अतः यह सिद्ध है कि पिण्डाण्ड में सारे देवता विज्ञानमय से उत्पन्न होते हैं और मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय तक इनका क्षेत्र है। 'देव मन' का जन्म-स्थान[6], जिसको कवि ही जानता है, यहीं है। मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि देवता ही 'विश्वे देवा' हैं, जो कि हमारे भीतर बैठे हुए इसी वामन की उपासना करते हुए कहे[7] जाते हैं। इसी पुरुष का नाम गर्भस्थ वामदेव भी है, जो वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान वसु, आदित्य, पूषा आदि देवों के रूप में उत्पन्न होने वाला कहा गया है[8]। अतः इन तथ्यों के आधार पर यह मानना बिल्कुल ठीक होगा कि ब्रह्माण्ड में भी 'विज्ञानमय' पुरुष के समकक्ष कोई सत्ता है जिससे इन सभी देवों की उत्पत्ति होती है।

यह सत्ता द्यावापृथिवी नामक संयुक्त देवता है जो 'धिषणा' रोदसी आदि

१—बृ० उ० १, ५, २३

२—**प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राणा एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयो प्राणमवः** (वही १, ५, ३)

३—वही १,५, १२, २, १, ६।

४—वही १, ५, २२, २।

५—वही २, १, २०।

६—ऋ० वे० १, १६४, १८। ७—क० उ० २, २, ३।

८—बृ० उ० १, ४, १०—११ ऐ० उ० २, ५, ऋ० वे० ४, २६-२८।

एक नाम[१] से पुकारा जाता है; विज्ञानमय या वाम की भाँति ही अग्नि आदि सभी देवों को जन्म देने वाला कहलाता है[२]। वह ऋत, रजः को धारण करने वाला ऋतवान् कवि[३] है, क्योंकि सर्वत्र पहुँचाने के लिये ऋत सब से पहले यहीं व्यक्त किया गया है, जिसके कारण ही 'देवों को उत्पन्न करने वाला' यह संयुक्त देवता प्रशस्त तथा बृहत् हुआ बताया जाता[४] है। उपर्युक्त गर्भस्थ वामदेव के समान, यहाँ भी एक 'पद्वान् गर्भ' होता[५] है, जो प्रजाओं या विभिन्न रूपों में उत्पन्न होता[६] है। विज्ञानमय की तरह इसको भी 'भुवन की नाभि'[७] तथा सारे विश्व के 'नाम को धारण करने वाला कहा गया है[८]। यद्यपि यह एक देवता है, परन्तु फिर भी इसके लिये ऋतावरी, देवपुत्रे, कवी, बृहती आदि द्विवचन विशेषणों तथा 'दधाते' आदि द्विवचन क्रियाओं का प्रयोग होता है। इससे प्रतीत होता है कि 'द्यावापृथिवी' गोपा की 'सध्रीची' अवस्था के समान है, जहाँ ब्रह्म तथा वाक् दोनों संयुक्त कहे गये हैं और जो कि 'विज्ञानमय' कोश के अन्तर्गत ही आता है। इस विषय में यह बात ध्यान देने की है कि 'सध्रीची' के समान ही द्यावापृथिवी का विशेषण 'समीची' है और एकामिव (एक के सादृश्य) कहा गया है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि द्यावापृथिवी आधिभौतिक जगत् में 'विज्ञानमय' के समान ब्रह्माण्ड की सारी शक्तियों का एकीभूत रूप है, जिससे वे सब उत्पन्न होकर नानात्व को प्राप्त होती हैं।

परन्तु द्यावापृथिवी केवल आकाश तथा पृथ्वी का संयुक्त रूप मात्र नहीं है। जैसा ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, वह तो सारे ब्रह्माण्ड के दो मूल भागों का संयुक्त रूप है, जिसके अन्दर 'सारे प्राण, सारे देव, सारे लोक तथा सारे भूत' आ जाते हैं। ये दो मूल भाग वही हैं जिनको ब्रह्म के दो रूप, मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत्, सत् तथा त्यत् कहा गया[९] है। इनमें से अमूर्त[१०] के अन्तर्गत वायु तथा अन्तरिक्ष का ज्योतिर्मय 'रस' आता है, जिसका प्रतीक आदित्य मण्डल का

१—ऋ० वे० १, ६०; १; ३, ४९; १; ६, ८, ३; १, ४४, ८; १, १६७, ५; ५, ५६, ८ आदि।

२—ऋ० वे० ७, ५३, १; १; १८५, ४; ४, ५६, २; १, १६०, १-३

३—वही; १, १६०, १। ४—वही १, १८५, ६।

५—वही १, १८५, ३। ६—वही, १; १८९, ४; ६, ७०, ३।

७—वही १, १८५, १। ८—वही १, १८५, ५।

९—बृ० उ० २, ३, १-५ १०—वही अनु०

'पुरुष' है, और मूर्त के अन्तर्गत वायु तथा अन्तरिक्ष के अतिरिक्त और जो कुछ है उसका 'रस' आता है, जिसका प्रतीक स्वयं तपने वाला आदित्य मण्डल है। इसी प्रकार पिण्डाण्ड[१] में प्राण तथा अन्तराकाश का 'रस', जिसका प्रतीक चक्षु में रहने वाला पुरुष है, अमूर्त रूप है और इसके अतिरिक्त जो भी है उसका 'रस' मूर्त का रस है, जिसका प्रतीक स्वयं 'चक्षु' है। अतः ऐसा लगता है कि आकाश और पृथिवी के भीतर सारे पदार्थ आ जाने से, द्यावापृथिवी का प्रयोग, लक्षणा के द्वारा इस नानात्वमय जगत् के इन मूल तत्वों के स्थूल रूपों के लिये भी होने लगा।

द्यावापृथिवी से आकाश और भूमि का जोड़ा निश्चित रूप में भिन्न माना गया है। द्यावापृथिवी सभी देवताओं के जनक हैं, जबकि आकाश, भूमि तथा आपः में से हर एक में केवल ग्यारह-ग्यारह देवता वास करते[२] हैं। बृहदारण्यक[५] उपनिषद के अनुसार, पृथिवी आकाश तथा आपः में क्रमशः अग्नि, आदित्य तथा चन्द्र देवता हैं, जिनके प्रतिरूप पिण्डाण्ड में क्रमशः वाक्, मन और प्राण हैं, क्योंकि वस्तुतः सारे विश्व में नाम, रूप तथा कर्म ये तीन ही तो तत्त्व[३] हैं; जो आधिभौतिक और आध्यात्मिक जगत् में उक्त तीन-तीन देवताओं द्वारा व्यक्त किये गये हैं। इनमें से कर्म-तत्त्व वायव्य तथा द्रवीय पदार्थों में पाया जाता है; अतः इसके लिये 'अपः' शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ ही वेद में 'कर्म' है और जो कि द्युस्थानीय सूर्य या सोम (चन्द्र) के अतिरिक्त अंतरिक्षस्थानीय वायु से भी सम्बन्ध रखता है। अतः यास्क के अनुसार पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु के तीन देवता क्रमशः अग्निः, वायु (इन्द्र) तथा सूर्य हैं (**अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्यु स्थानः**[४]) यथार्थ में जिस प्रकार 'वाक्' द्वारा आध्यात्मिक ब्रह्म अपने को पिण्डाण्ड के नानात्व में व्यक्त या व्याहृत करता है, उसी प्रकार आधिभौतिक ब्रह्म अग्नि द्वारा ब्रह्माण्ड के नाना देवों आदि में अपने को व्यक्त या व्याहृत करता[५] है। अतएव उक्त त्रिदेवों को व्यस्त रूप से तीन व्याहृतियों तथा समस्त रूप से प्रजापति, सर्वदेवत्व, परमेष्ठय या ब्रह्म ओंकार कहा जाता है[६], जिसकी विभूतियाँ ही और

१—वही, अनु।

२—ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामेकादश स्थ।
अप्सु क्षितौ महिनैकादश स्थ तं देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्
(ऋ० वे० १, १३९, ११)

३—त्रयं वा इयं नामरूपम् कर्म (वही, १, ६, १)

४—वि० ७, ५। ५—बृ० उ० १, ४, १५। ६—ऋ० स० २, ८-१२।

देवता हैं। प्रथम भाग में हम उक्त तीन व्याहृतियों को 'भू, भुव तथा स्व, नाम से वर्णन कर चुके हैं, जिनका समस्तरूप 'मह' महचामस्य व्याहृति ब्रह्म है, जो चक्षु तथा आदित्य दोनों का पुरुष कहा गया है[१]। यही भू, भुवः, स्वः को जब क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक का 'रस' (सार पदार्थ) कहा जाता है, तो इनके समस्त रूप को द्यावा-पृथिवी कहा जाता है, जो 'महः' अथवा द्विवचन में 'मही' कहा जाता[२] है। यही वह महाचमस 'देवपान' है, जिसके चार चमस कर दिये जाते[३] हैं। महाचमस के इन चार भागों का नाम भी क्रमशः द्यु, भूमि, अंतरिक्ष तथा 'अपः' मालूम पड़ता[४] है, जिससे स्पष्ट है कि जो वायव्य तथा द्रव पदार्थ, ऊपर के उदाहरणों में, एक व्याहृति के अन्तर्गत रक्खे जाते थे, वे यहाँ अलग-अलग दो भागों में कर दिये गये हैं।

(ख) **मित्रावरुण**—द्यावापृथिवी विश्व के जिन दो मूल-तत्त्वों का रस या सार कहा गया है, वे मूर्त-अमूर्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-त्यत् या सत् त्यत् वास्तव में वही हैं, जिनको पुरुष तथा प्रकृति कहा जाता है, अथवा जिनको हमने प्रथम भाग में ब्रह्म और वाक् या पुरुष तथा माया कहा है। द्यावापृथिवी वस्तुतः इनके स्थूल रूप का नाम है; जबकि इनमें से प्रत्येक का एक सूक्ष्म रूप और है, जो अपने अपने स्थूल रूपों में व्याप्त रहता है और जिनके प्रतीक[५] सूर्य-मण्डल तथा उसमें रहने वाला 'ज्योतिर्मय' पुरुष है। इन्हीं को वेद में मित्रावरुण नामक संयुक्त देवता के अन्तर्गत रक्खा गया है। अतः महाभारत[६] में स्पष्ट रूप से मित्रावरुण को पुरुष-प्रकृति का जोड़ा बताया गया है। मित्रावरुण 'विज्ञानमय' के उन्मनी-शक्ति-युक्त पुरुष के समकक्ष है, जिसको ऊपर परा पथ पर चलने वाला गोपा कहा गया है, जब कि द्यावापृथिवी उसके समनी-शक्ति-युक्त पुरुष के समकक्ष है, जिसको 'सध्रीची' कहा गया है। पहली अवस्था में जो 'परा' है वह वाक् का शुद्धतम और सूक्ष्मतम स्वरूप है, जो अन्त में 'आनन्दमय' की द्योतमाना स्वयं 'मनीषा' के रूप में परिवर्तित हो जाती है; परन्तु दूसरी अवस्था में वही वाक् अशुद्ध तथा स्थूल रूप की

१—तै० उ० ०, ३, १० तु० क० प्र० भा०

२—ऋ० वे० १, १५१, ५; ७, ५३, १; ४, ५६, १; ३, १, ७; ३८, ३, ५५, २० । ३—ऋ० वे० १, १६१, १४ ।

४—ऋ० वे० २, ३, १-३ । ५—१२, ३१८, ३९ ।

६—तु० क० ऋ० वे० ५, ६१, १ जहाँ मित्रावरुण को भी (ऋतस्य गोपा) कहा गया है।

'असुर-माया'[1] होने लगती है, जिससे आवृत होकर पुरुष नानात्व में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिये मित्रावरुण को देव तथा असुर दोनों कहा गया है (**महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा**); देव-रूप में वह 'मित्रावरुण' है और असुर-रूप में द्यावापृथिवी[2]।

मित्रावरुण को देव और असुर दोनों कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुष तो ज्योतिर्मय अमृतमय देव होता है, परन्तु उसको आवृत करने वाली माया अंधकार-मयी अथवा 'पृश्नी' (चितकबरी) असुरता होती है। अतः दोनों के संयुक्त रूप को 'देव तथा असुर' दोनों ही कहा जा सकता है। महाभारत के समान ही, प्रतीत होता है, वेद में भी मित्र को ज्योतिर्मय पुरुष तथा वरुण को कृष्णा 'प्रकृति' कहा गया है। अतएव व्यस्त रूप में मित्र तथा वरुण का वर्णन करते हुए अथर्ववेद[3] में वरुण का सायंकाल से तथा मित्र का प्रातः से सम्बन्ध बताया गया है; रात में जिसको वरुण आवृत कर लेता है, उसी को मित्र प्रातः अनावृत कर देता है[4]। इसी के आधार पर परवर्ती साहित्य में मित्र का दिन से तथा वरुण का रात से सम्बन्ध बतलाया गया है। परन्तु, मित्रावरुण अपने समस्त रूप में प्रकाशात्मा ही है और इस दृष्टि से 'सम्राजौ'[5] उनका प्रमुख विशेषण है। परन्तु पिण्डाण्ड में जिस 'सलिल, एक, अद्वैत, साक्षी, सम्राज्' का उल्लेख किया जा चुका है, उसके समकक्ष मित्रावरुण की सम्राजता नहीं है। वह तो शुद्ध वरुण-रहित मित्र ही हो सकता है; परन्तु तब उसको मित्र नहीं कहा जायेगा, क्योंकि 'मित्र' तो उल्लिखित' माया, मात्रा' आदि शब्दों की भाँति 'मा' धातु से निकला है और ब्रह्म केवल उस स्वरूप को व्यक्त करता है जो माया द्वारा 'मित' हो चुका है। अतएव एक मात्र मित्र-सूक्त में भी वह अपनी शक्ति से युक्त है और अपनी महिमा से द्यावापृथिवी को धारण तथा अभि-भूत करता है[6]।

जैसा ऊपर[7] देख चुके हैं, शक्ति, वाक् या माया का तनिक भी स्फुरण बिना ऋत के नहीं हो सकता। अतः मित्रावरुण भी 'परापथ पर चलने वाले गोपा' के समकक्ष होने से ऋत से विशेष सम्बन्ध रखता है और उसको मित्रावरुणा ऋता[8]

१—ऋ० वे० ५, ६३, ३। २—ऋ० वे० ८, २५, ४।
३—१३, ३, १३। ४—अ० वे० ९, ३, १८।
५—ऋ० वे० १, १३६, १; २, ४१, ६; ५, ६८, २; ८, २३, ३०; ५, ६३, ५ आदि। ६—ऋ० वे० ३, ५९, १; ७।
७—देखो पिण्डाण्ड। ८—ऋ० वे० ७, ६२, ३।

कहा जाता है। जिस प्रकार द्यावापृथिवी ऋत को प्रथमबार उत्पन्न करने वाला और फलतः विश्व को जन्म देने वाला कहा गया है, उसी प्रकार मित्रावरुण को 'ऋतस्य गोपा' या 'विश्वस्य गोपा' कहा जाता[१] है, क्योंकि वह सारी शक्ति और उससे उत्पन्न द्यावापृथिवी की सारी नाम-रूप सृष्टि का अपने में गोपन या लय कर लेता है। परन्तु, फिर भी यह 'पद्यमान' गोपा है, जो कि 'सलिल, अद्वैत, सम्राज्' आदि कहे जाने वाले 'अनिपद्यमान गोपा' से भिन्न है। आगम ग्रन्थों में भी परावाक् को मित्रावरुण के सदन से ही उत्पन्न होने वाला माना जाता है, जैसा कि 'साऽम्बा पञ्चशती' के नीचे लिखे उदाहरण से प्रकट होगाः—

या सा परा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्ठि,
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसंगात् प्रसूतैः।

मित्रावरुण न केवल ऋत से सम्बन्ध रखते[२] हैं, अपितु स्वयं ऋत कहे[३] जाते हैं। परन्तु, यथार्थ में भाव (गति या विकृति) का बोधक ऋत वरुण की वस्तु है, क्योंकि वरुण ब्रह्म की शक्ति (माया) का द्योतक है। अतः वरुण में 'ऋत' का उत्स है (खामृतस्य); वह ऋत को धारण करने[४] वाला है और सारी सृष्टि का कर्ता है। उसने आकाश, पृथिवी तथा सूर्य की सृष्टि की[५], आदित्य के लिये मार्ग बनाया, नदियों की रचना की और उन्हें समुद्र की ओर चलाया[६]। वायु उसकी श्वास है, और द्यावापृथिवी के बीच प्रत्येक वस्तु में उसका निवास[७] है। वह संसार-रूपी विशाल वृक्ष का भी कर्ता है, जिसकी जड़ ऊपर की ओर है और शाखायें नीचे की ओर[८]। उसने वृक्षाग्रों पर अन्तरिक्ष, गायों में दूध, घोड़ों में शक्ति, हृदयों में 'ऋतु', और आकाश में सूर्य स्थापित किया; उसने मनुष्य का कबन्ध, रोदसी तथा अन्तरिक्ष बनाये, जिससे वह समस्त विश्व का, सारे भुवन का राजा है; इस सृष्टि का वह पोषण करता है, और उसका 'दुग्ध' सारे आकाश और पृथिवी को ओतप्रोत कर लेता है—यह सारी सृष्टि उस वरुण असुर की 'महामाया' का खेल है, जिसने माप-तुल्य 'मानेनेव' सूर्य को अन्तरिक्ष में स्थिर किया और पृथिवी को निर्मित किया (विममे[९])।

१—ऋ० वे० ५, ६३, १, ५। २—वही ५, ६२, १। ३—वही ५, ६८, १
४—ऋ० वे० २, २८, ५। ५—वही ७, ८६, १।
६—वही ७, ८७, १। ७—वही ७, ८७, २।
८—वही १, २४, ७ तु० क० ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः। क० उ० २, ३, १। ९—वही ५, ८५, २-५।

ऋत के अतिरिक्त, वरुण का सम्बन्ध 'व्रत' से भी है। जिस प्रकार ऋत के अन्तर्गत सारे कर्म (गति, विकृति या भाव) आते हैं, उसी प्रकार व्रत के अन्तर्गत वे सब कर्म आते हैं, जिनको कोई अपने करने के लिए चुन लेता[1] है। वृहदारण्यक[2] उपनिषद में 'व्रत-मीमाँसा' करते हुए बताया गया है कि किस प्रकार प्रजापति ने जब कर्मों की रचना की तो पिण्डाण्ड में वाक् आदि ने बोलने आदि के कर्म पसन्द किए और ब्रह्माण्ड में अग्नि आदि ने जलाने आदि को चुना। जैसा ऊपर कह चुके हैं, मित्रावरुण ही प्राजापात्य व्याहृति है। अतः वेद में मित्रावरुण का भी सम्बन्ध व्रत से है। यथार्थ में शुद्ध मित्र (ब्रह्म) तो अकर्ता है, परन्तु वरुण (प्रकृति, माया या वाक्) से संयुक्त होने पर जिस प्रकार वरुण को अपनी सम्राजता (ज्योतिर्मयता) दे देता है, उसी प्रकार वरुण की क्रिया (ऋत या व्रत) भी ग्रहण कर लेता है। अतः यथार्थ में वरुण ही सभी व्रतों की स्थापना करने वाला है और 'धृत-व्रत'[3] कहलाता है। मित्र, वरुण या मित्रावरुण के व्रत को मनुष्य, अग्नि, सूर्य, आदित्य, नदियाँ आदि सभी मान[4] रहे हैं। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का उदय, अस्त और गति वरुण के 'व्रतों' के ही अन्तर्गत है।

वरुण और आपः—वरुण का आपः (अपः) से घनिष्ट सम्बन्ध है, यहाँ तक कि बाद के साहित्य में वरुण केवल 'आपः' का ही देवता माना जाता है। वेद में अपः का मूल अर्थ कर्म या गति है, अतः निघंटु में इस शब्द को कर्म-नामानि की सूची में दिया है। परन्तु जब सारे पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड को केवल नाम, रूप तथा कर्म में ही विभक्त किया गया[5] और कर्म के अन्तर्गत समस्त द्रवीय और वायव्य आदि गति तथा क्रिया रखने वाले पदार्थ आ गये तो 'अपः' का प्रयोग न केवल जलीय पदार्थों के लिये होने लगा, अपितु इस प्रकार के सभी पदार्थ 'अपः' के अन्तर्गत आ गये। अतः वायु को भी अपः का रस (**एष वाऽअपांरसोयोऽयंपवते**) कहा गया है। एक दूसरे दृष्टिकोण से सारे नानात्वमय जगत् को केवल दो तत्त्वों में बाँटा जा सकता है; वे तत्त्व मूर्त्त-अमूर्त्त, आर्द्र-शुष्क अन्न-अन्नाद या प्रकृति-पुरुष हैं। इस अवस्था में 'आपः' का प्रयोग उस तत्त्व के लिये होने लगा, जिसको मूर्त्त, आर्द्र

१—'वृ' धातु का अर्थ चुनना पसन्द करना है, उसी से वृत शब्द निकला है।
२—१, ५, २१। ३—ऋ० वे० १, २५, ८; १० आदि।
४—वही ३, ५९, ३; बाल० ४, ३, ऋ० वे० १, २५, १; ७, ५९, ५; २, २८, ४; १, २४, ९; १, १५, २५; १-२; २१; २, २८, ५ आदि।
५—त्रयं वा इदम् नाम रूपं कर्म—बृ० उ० १, ६, १ अनु०।

अन्न या प्रकृति कहा जाता है और जो सारी नामरूपात्मक सृष्टि का मूल कारण है। अतः आपः से सृष्टि की उत्पत्ति बताई जाती है:—

"आपो वाऽइदमग्रे सलिलमेवासीत् अकामयन्त कामं नु प्रजायेमहीति;" अथवा "आपो वा इदमग्र आसीत्। ता ऐक्षन्त बहवः स्याम् प्रजायेमहीति"।

जैसा इन उद्धरणों से प्रतीत होता है, इस अर्थ में आपः की दो अवस्थायें हैं— एक 'सलिल' अवस्था, दूसरी नानात्व की कामना अवस्था। पहली अवस्था तो वह काल्पनिक अवस्था है, जिसमें सारी नामरूपात्मक सृष्टि अव्याकृत (अप्रकेत) रहती है और सत्-असत्, मूर्त्त-अमूर्त्त, मर्त्य-अमृत, स्थित-त्यत्[1] आदि का भेद भी नहीं होता। इसी का उल्लेख नासदीय सूक्त[2] में इस प्रकार किया गया है:—

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजोनो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।
तम आसीत् तमसा गूढ़ऽमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।

दूसरी अवस्था में जब नानात्व की कामना होती है, तो मनोमय का बीज (मनसो रेतः) उत्पन्न होता है और सत्-असत् की नानात्मक सृष्टि उत्पन्न हो जाती है:[3]—

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम्
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या-कवयो मनीषा।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि 'आपः' की दूसरी अवस्था 'विज्ञानमय' की सध्रीची अवस्था के समकक्ष है, जिससे 'मनोमय' की उत्पत्ति होती है। इसी के समकक्ष उक्त 'द्यावापृथिवी' है, जिसमें भी 'मनुः रेतः'[4] छिपा हुआ कहा जाता[5] है। 'मनुः रेतः' को अन्यत्र गतिशील गर्भ कहा गया है, जिसको द्यावापृथिवी धारण[6] करते हैं। इसलिये 'आपः' की इस अवस्था को 'द्यावापृथिवी' या सध्रीची कहा जा सकता है।

आपः की सलिल अवस्था को 'वरुण' कह सकते हैं। 'सलिल' अवस्था में दूसरी

१—ऊ० उ०। २—ऋ० वे० १०, १२९। ३—वही, अनु०
४—मनु विवेचन की दृष्टि से मन ही है और, जैसा आगे देखेंगे, वह मनः का आधिभौतिक प्रतिरूप है। ५—ऋ० वे० ६, ७०, २।
६—वही १, १८५, २।

अवस्था का नानात्व अव्याकृत अवस्था में रहता है, और उसीसे नानात्व का प्रसार तथा उसी में उसका संकोच या लय भी होता है। अतः वरुण को 'समुद्रिय'[1] या 'समुद्रः'[2] 'अपीच्य' (गुप्त-समुद्र) कहा जाता है। इसलिये समुद्र[3] 'आपः' की योनि या प्रतिष्ठा है और उसी से सारे देवों तथा भूतों का जन्म होता[4] है। 'विज्ञान-मय' के अन्तर्गत आने के कारण मित्रावरुण तथा द्यावापृथिवी दोनों चौथी व्याहृति (महः) के समकक्ष हैं; समुद्र और आपः को भी इसीलिये 'चतुर्थधाम'[5] कहा जाता है। आपः को जब 'चतुर्थ दवलोक'[6] या 'चतुर्थ प्रिय धाम', अथवा 'विश्वे-देवा'[7] कहा जाता है, तब यही बात अभिप्रेत प्रतीत होती है, क्योंकि 'महः' ही अन्य तीन व्याहृतियों का उद्भव तथा अन्त है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में समुद्र से सानाम-रूप सृष्टि की उत्पत्ति बड़े रोचक ढंग से वर्णन की है, जिसको हम 'वैराजिक' सृष्टि के अन्तर्गत दखेंगे[8]।

इस 'सलिल' अवस्था की सांख्य के 'महत' (प्रकृति) से तुलना की जा सकती है। वैदिक साहित्य में 'सलिल' को 'महत्' भी कहा गया है (**आपो वा इदमग्रे मह-त्सलिलमासीत्**) और महाभारत के अनुसार 'वरुण[9]' प्रकृति का नाम है। सलिल की भाँति 'महत्' भी सृष्टि का मूल कारण है और उसमें भी सारा नानात्व अव्याकृत (अप्रकेत रूप में छिपा रहता है, जो पुरुष के साक्षात से 'क्षुब्ध' होकर सृष्टि प्रारम्भ करता है। ऊपर के दिये हुए नासदीय सूक्त के उद्धरण में कहा गया है कि 'प्रकेता सलिल' की अवस्था में सत्-असत् कुछ भी नहीं होता--अथवा यों कहा जाय 'तमसागूढ़' रहता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सत् और असत् वास्तव में नामरूप जगत के दो मूल तत्त्व हैं, जिनको क्रमशः सत्व (Being) तथा भाव या रजः (Becoming) कहा जा चुका है और 'तमः' जो यहाँ है, वही पिण्डाण्ड के विज्ञानमय में भी देखा जा चुका है। अतः 'सलिल' आपः की

१—ऋ० वे० १, २५, ८ २—वही ७, ४१, ५।

३—श० ब्रा० ११, २, ३, ६; गो० ब्रा० ५, १५; श० ब्रा० १, ७, ४, २२; ३, ९, १; १३, ४, २, ३; ५, ५, २, १०; ३, ९, १, १४; ४, १, ९, १८।

४—गो० ब्रा० १, ५, १५। ५—श० ब्रा० ७, ५, ५८।

६—श० ब्रा० १४, २, २, २ जै० उ० ब्रा० १, २५, ४।

७—ता० म० ब्रा० ६, ४, ७ ऐ० ब्रा० १, ६ तु० क० ऋ० वे० ४, ५८, १ ता० म० ब्रा० ७, ७, ९ ८—जै० उ० ब्रा० ७ ३, ३५, ५; श० ब्रा० ३, ८, ४ ११; ३, ९, ३, २७, ३, १२, ९, २, ५। ९—ऊ० उ०

जहाँ 'विज्ञानमय' से तुलना की जा सकती है, जिसमें सत्व, रज तथा तम 'सुप्त' अवस्था में होते हैं, वहाँ इसकी समानता सांख्य 'महत्' से भी की जा सकती है, जिसमें ये तीनों तत्व साम्यावस्था में कहे जाते हैं।

अतः आधिभौतिक विज्ञानमय की आध्यात्मिक विज्ञानमय से अच्छी तरह तुलना हो सकती है। दूसरे के 'पराची' तथा 'सध्रीची' तो पहले के 'मित्रावरुण' 'तथा 'द्यावापृथिवी' के समकक्ष हैं ही, साथ ही सत्व, रजः तथा तमः भी दोनों में प्रसुप्त है। इसके अतिरिक्त जो महः तथा प्रियं का प्रयोग यहाँ समुद्र और आपः या मित्रावरुण तथा द्यावापृथिवी के लिये हुआ है, वही आध्यात्मिक 'विज्ञानमय' में देखा जा सकता है[1]।

(घ) वाक्, वरुण और देवी—ऊपर हमने मित्रावरुण तथा द्यावापृथिवी के एक (प्रकृति) तत्त्व के साथ 'परा' वाक् की तुलना की है। परन्तु, यह तुलना कोरा सादृश्य ही नहीं है। पिण्डाण्ड में जिस प्रकार 'वाक्' पुरुष की आत्माभिव्यक्ति या आत्म-प्रसार की शक्ति थी, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी वह एक महिमा है, जिससे प्रजापति सृष्टि करता[2] है। यथार्थ में यह कहना ठीक नहीं है कि प्रजापति सृष्टि करता है, क्योंकि प्रजापति तो अकर्त्ता है, वस्तुतः सृष्टि तो 'वाक्' करती है—अथवा सृष्टि रूप में वाक् स्वयं हो जाती (विभवन्ती) है[3]। सारी नाम-रूप सृष्टि वाक् का ही 'विकार' है (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्[4]) इसलिये यह जगत ही सारा 'वाक् है[5] अतः वास्तविक कर्ता 'वाक्' है। वाक् विश्वकर्मा ऋषि है, जो इस समस्त दृश्यमान विश्व को रचता है (वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः वाचा हीदं सर्वं कृतम्[6]); वही त्वष्टा है, जो उसको बनाता है (वाग्वै त्वष्टा, वाग्घीदं सर्वं ताष्टीव[7])। न केवल वह सृष्टि रचती है अपितु वह उसका भरण-पोषण भी करती है (वाग्वै ब्रह्म इयमेव सर्वं विभर्त्ति[8]); वह एक गाय है, जिसके दूध से देव, पितर, असुर और मनुष्य सभी जीवन धारण करते हैं[9]। अन्त में इस सृष्टि का संहार भी वाक् ही करती[10] है।

१—श० ब्रा० २, २, ४, १, ४, २, १७; का० स० १९, ५, २७।
२—वही ३—का० सं० १२, ६, १७ आदि। ४—छा० उ० ६, १ अनु।
५—ऐ० ब्रा० २, ४। ६—श० ब्रा० ८, १, २, ९ तु० क० १३, ५८।
७—श० ब्रा० ३; १, २, ५। ८—ऐ० ब्रा० ६, ३।
९—श० ब्रा० १४, ८, ९, १ गो० ब्रा० १, २, २४; ता० म० ब्रा० १८, ९, २१, १, ३, १ तु० क० अ० वे० ८, ९ आदि। १०—ऐ० ब्रा० ४, १, २, १४-१६।

'वाक्' द्वारा होने वाले इस उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार का एक सुन्दर चित्र नीचे लिखे हुए ऋग्वैदिक सूक्त में बहुत अच्छी तरह से दिया गया है।

ऋ० वे० १, १२५

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तांमा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रांभूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥
मयासो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति यः ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवंते वदामि ॥४॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥
अहं सुवेपितरमस्य मूर्धन मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वो तामूंद्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि ॥७॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव ॥८॥

संक्षेप में 'वाक्' के विषय में निम्नलिखित बातें इस सूक्त से ज्ञात होती हैं, जो विचारणीय हैं:—

(१) रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्वदेवों देवगणों के साथ वह विचरती है और मित्रावरुण, इन्दाग्नी तथा अश्विन जैसे देव-युगलों तथा सोम, त्वष्टा, पूषा और भग जैसे देवों का भरण करती है।

(२) वह सारे वसुओं को एकत्र करने वाली 'राष्ट्री' है; 'यज्ञीयों' की प्रथम जानने वाली है, जिसको देवों ने अनेक स्थानों पर विविध रूपों में रख छोड़ा है— जो अनेक स्थानों में रहने वाली और अनेक में व्याप्त है। अतः देखना सुनना तक बिना इसके नहीं हो सकता।

(३) ब्रह्मद्विषों पर रुद्र का जो शर-संधान होता है, वह भी इसी वाक् के द्वारा। वह सारे द्यावापृथिवी में व्याप्त है।

(४) वाक् ने ही इसके पिता को (भुवन) उत्पन्न किया, जो स्वयं वाक् की

योनि है, और जो समुद्र आपः में है। तब इसने 'विश्व-भुवन' को बनाया (वितष्टे)। वही वात के समान सारे भुवनों में वहती है, आकाश और पृथिवी से भी परे वह शक्ति के द्वारा (महिना) फैल गई है।

'वाक्' के इस वर्णन में ऐसी कोई बात नहीं है, जो वरुण के लिये न कही जा सके। वरुण के ऋत से ही तो सारे देवों का जन्म हुआ है और सभी देव उसके 'ऋत' का ही पालन करते हुए काम कर रहे हैं। वह सर्वव्यापक१ है। सारा विश्व२ उसमें है। द्यौ में भी वह नहीं समा सकता। उससे बचकर कोई द्यौ से परे भाग जाने पर भी नहीं बच सकता३। विश्व में कोई काम भी उसके बिना नहीं हो सकता, यहाँ तक कि कोई जीव उसके बिना पलक नहीं मार सकता४, अतः वरुण मनुष्यों के निमेषोन्मेष तक की भी गिन लेता है५। वह आकाश में चिड़ियों के तथा सागर में जहाजों के मार्ग को पहचानता है, उससे गुप्त से गुप्त बात भी छिपी नहीं है६। समस्त विश्व के पिता 'आपः' को वरुण उत्पन्न करता ही है और स्वयं 'समुद्रीय' या 'समुद्र अपीच्य', कहलाता है। वरुण की माया और यहाँ वाक् की महिमा में कोई अन्तर नहीं; दोनों ही सारे विश्व में फैली हुई हैं।

बह्वृचोपनिषद में वाक् या पराशक्ति को देवी महात्रिपुरसुन्दरी कहा गया है, जो समस्त विश्व का उद्भव, स्थिति तथा प्रलय करने वाली है और ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र को उत्पन्न करती है:—

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्; विष्णुरजीजनत्; रुद्रो-अजीजनत्। सर्वे मरुद्-गणा अजीजनत्, गन्धर्वोप्सरसः किन्नारावादित्रवादिनः समन्तादजीजनत्। भोग्य-मजीजनत् सर्वमजीजनत् सर्वशक्तिमजीजनत्। अण्डजं, स्वेदजं, जरायुजमुद्भिज्जं यत्किंचैतत्प्राणिस्थावरजंगमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा पराशक्ति........ओमों वाचि प्रतिष्ठा सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालव-स्त्वन्तरसंगान्महा त्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः।

वरुण और वाक् देवी की यह कल्पना आगे चलकर शैव, वैष्णव तथा शाक्त आगमों में बहुत अच्छी तरह विकसित हुई है। ऊपर का वर्णन आगमों की देवी का ही संक्षिप्त चित्रण कहा जा सकता है; क्योंकि आगमीय देवी के सारे मूल अंग यहाँ मिल जाते हैं। वह देवी भी महात्रिपुरसुन्दरी कहलाती है और उत्पत्ति, स्थिति

१—ऋ० वे० ८, ४१, ३, ७। २—वही ७, ८७, ५।
३—अ० वे० ४, १६, ४। ४—ऋ० वे० २, २८, ६।
५—अ० वे० ४, १६, २। ६—ऋ० वे० १, २५, ७-९।

तथा प्रलय तीनों को करने वाली है। सौंदर्य-लहरी[1] के शब्दों में देवी का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया गया है—'विरंचि (ब्रह्मा) तेरे चरण-कमलों के रज-कणों को एकत्र करके सब कुछ पा लेता है और सारे लोकों की रचना करता है। सौरि (विष्णु उसी को अपने सहस्र शिरों पर वहन करता है; हर (रुद्र) उसी को मलकर भस्म की भाँति अपने शरीर पर लगा लेता है। इसी भाव को महानिर्वाण-तन्त्र कुछ और बढ़ाकर कहता है यद्यपि उसमें वह कवित्व नहीं है, 'तू महायोगिनी अपने स्वामी की इच्छा मात्र से प्रेरित होकर सारी चराचर सृष्टि का उद्भव, स्थिति तथा प्रलय करती है। विश्व का संहर्ता महाकाल तेरा ही एक रूप है। संहार के समय, काल (समय) ही सब को कवलित कर लेता है; इसी कारण यह महा-काल कहलाता है। महाकाल को भी कवलित करने से तू ही परम महाकाली कह-लाती है। तू ही सब का उद्भव है और तू ही सब को कवलित कर जाती है; अतः तेरा ही नाम आद्या कालिका है। संहार के बाद अपने तमोरूप निराकार स्वरूप को धारण कर लेती है, तो तू ही एक अगम तथा अगोचर शेष रह जाती है। आकार ग्रहण करती हुई भी तू निराकार है। तू अनादि है और माया से ही नानारूप होती है, फिर भी तू सब का आदि है; सब का सृजन, पालन तथा संहार करने वाली है।'

जिस प्रकार वरुण इसी वाग्देवी के समान सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्ति-मान् है, उसी प्रकार वरुण-सूक्तों में जो एक भक्त की भक्ति, आत्मसमर्पण, करुण-पुकार, कातर-आह्वान तथा दया-याचना मिलती है उसकी समता कदाचित् शंकराचार्य आदि द्वारा रचे हुए देवी-स्तोत्रों में ही मिल सकती है। ऋग्वेद का सातवाँ मण्डल इस प्रकार के वरुण-स्तोत्रों से भरा पड़ा है। आगमों की जगदम्बा की भाँति वरुण का साक्षात्कार या सायुज्य भी जीवन का लक्ष्य माना जाता है; मनुष्य के पाप ही उसकी प्राप्ति में बाधक हैं; अतः पापों से मुक्त करने के लिये वरुण से प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार की प्रार्थनाओं का एक सुन्दर उदाहरण ऋग्वेद ७, ८६ में मिलता है जिसका छन्दो-बद्ध अनुवाद दिया जा रहा है—

जीवलोक है धीर उसी के बल से।
महत् रोदसी टिके जिसी के डर से॥
परम बृहत उत्तुंग 'नाक' मथ डाला।
नक्षत्र भूमि में द्विधा उसे कर डाला॥१॥

१—सौ० ल० मु० शा० ५, २। २—म० नि० तं० ४, ३-३४।

केवल चिन्तन एक व्यथित मन करता—
'वरुण मुझे कब मिलें और कैसे हा !,
कैसे वे तज कोप हव्य अपनावें।
हम मृलीक को सुमन कभी लखपावें' ॥२॥
इसी चाह से, 'भूल' ,पूछता फिरता।
बुधजन में इस हेतु डोलता फिरता ॥
ज्ञानी-जन भी यही बात बस कहते।
'अरे ! वरुण हैं कुपित आप से रहते' ॥३॥
वरुण ! कौन है महापाप वह मेरा।
बना क्रोध का कवल भक्त जो तेरा ॥
कहो महान् ! स्वतन्त्र ! वरुण ! बस कह दो।
पग पड़ता, मैं तुम्हें मनाता कह दो ॥४॥
क्षमा करो जो पाप किये मेरे पुरखों ने।
क्षमा करो वे पाप किये जो तन से मैंने ॥
राजन् ! मुक्त वसिष्ठ करो पशुतृप सम ऐसे।
निज बन्धन से वत्स मुक्त होता है जैसे ॥५॥
नहीं वरुण अघ स्ववश किया पर भ्रमवश।
सुरा, द्यूत अविवेक, मन्यु से परवश ॥
छोटों पर तो सदा बड़ों का वश है।
नहीं स्वप्न में उन्हें अनृत का वश है ॥६॥
अनघ, अमल हो कुपित देव मृदु कर लूं।
सेवा तेरी मृदुल ! दास सम कर लूं ॥
अविवेकी को देव ! विवेक सिखाते।
बुद्ध ! ग्रस्त को ज्ञान तुम्हीं बतलाते ॥७॥
हे स्वतन्त्र ! हे वरुण ! प्रशस्ति हमारी।
द्रवित करे तब हृदय पहुँचकर भारी ॥
सुखकर योग-क्षेम रहे सब मेरा।
सदा करो कल्याण त्राण तुम मेरा ॥८॥

इस प्रकार की दीनता भरी प्रार्थनायें वरुण के भक्तों द्वारा की जाती हैं। हत्या करना (१, ४१, ८) अपशब्द कहना (१, ४१, ८) धोखा देना (२, २७, १६; ७६५, ३; ८, ४९, ३) जुआ खेलना (२, २९, ५) या जुआ के द्वारा

ठगना (५, ८५, ८) और सुरा, क्रोध तथा द्यूत (७, ८६, ६) आदि अनेक पाप कर्म हैं, जिनके करने से मनुष्य वरुण का अपराधी हो जाता है। क्रुद्ध होने पर वरुण अपने अस्त्रों से उसका ध्वंस कर सकता है (२, २८, ७), परन्तु प्रसन्न होने पर वह भक्तों को सब प्रकार से सुखी तथा समृद्ध बना सकता है (१, २४, ९); अतः अपने छिपे पापों (७, ८६, ३-४) को जानकर क्षमा याचना करने (७, ८६, ६; ८८, ६; ८९, ३; १, १४, १५) और फिर से वरुण के व्रतों को पालन करने से (७, ८६, ७) तथा यज्ञ करने से (१, २४, १४) उसकी कृपा फिर प्राप्त हो सकती है (५,८५, ८) और वह फिर सुखी हो सकता है। बिल्कुल इसी प्रकार के भाव हमें देवी-स्तोत्रों में मिलते हैं।

(ङ) **वरुण, असुरत्व तथा महत्**—वरुण तथा देवी के सादृश्य में 'असुर' शब्द एक विशेष महत्त्व रखता है। जैसा ऊपर देख चुके हैं, 'असुर' शब्द प्रधानतः वरुण के लिये आता है और उसके संयोग से 'मित्रावरुण' भी 'देवौअसुरौ' कहे जाते हैं। वरुण, जिस प्रकार सांख्य 'प्रकृति' का समकक्ष है, उसी प्रकार 'महत्' का भी, और सब से मनोरंजक बात यह है कि ऋग्वेद में महत् को देवों का एक असुरत्व (महद्देवानामसुरत्वमेकम्) कहा है। सांख्य 'महत्' के साथ भी असुरत्व का सम्बन्ध कदाचित् 'आसुरि' ऋषि के रूप में देखा जा सकता है। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी समय वरुण 'असुर महत्' भी कहलाता होगा जिसका रूप बिगड़कर अवेस्ता में 'अहुरमज्द' हो गया। अहुरमज्द हर प्रकार से वैदिक वरुण का प्रतिरूप है, और वैदिक 'मित्रावरुण' के समान अवेस्ता में भी 'मिथ्र अहुर' का जोड़ा मिलता है। जैसा कि कहा जा चुका है, मित्रावरुण (अतः मिथ्र अहुर) भी शक्तिमान-शक्ति, पुरुष-प्रकृति अथवा ब्रह्म-वाक् के जोड़े का ही दूसरा नाम है। भारतवर्ष में जिस प्रकार इस जोड़े के दोनों भागों (ब्रह्म और वाक् या पुरुष और प्रकृति) को लेकर शक्तिमान तथा शक्ति की उपासना अलग अलग होने लगी, वही ईरान में भी हुआ मालूम पड़ता है, क्योंकि वहाँ एक समय तो जुरथुस्त्र 'अहुरमज्द' की उपासना का ही सर्वत्र प्रचार कर देते हैं, परन्तु उनके बाद ही मिथ्र पूजा इतने जोरों से फैलती है कि रोम में ईसाई धर्म तथा भारत में हिन्दु धर्म तक पर भी वह अधिकार जमाने का प्रयत्न[1] करती है। परन्तु जब कि ईरान वैदिक मित्रावरुण का अनुकरण करता हुआ शक्तिमान् तथा शक्ति दोनों को पुल्लिग नामों से ही पुकारता है, भारतवर्ष में शक्तिमान् को विष्णु, शिव आदि पुल्लिग,

---

१—दे० फार्कुहर, ओ० र० ल० इ० १५२; हापकिन्स, रि० ई० ७१७५

नाम दिये जाते हैं, तो शक्ति की देवी की जगदम्बा कालिका, महात्रिपुरसुन्दरी आदि नामों से उपासना की जाती है।

मित्र और वरुण के विषय में एक महत्त्व-पूर्ण बात यह है कि जराथुस्ट्र के पश्चात् अवेस्ता में 'मिथ्र' तो एक 'यजत' के रूप में रहकर अपना कुछ वैदिक देवत्व कायम रखता है, परन्तु वरुण तो अपना पूर्व रूप बिल्कुल ही खो बैठता है और केवल एक राक्षस मात्र रह जाता है। वरुण के इस अध:पतन का कारण वेद में ही विद्यमान है, वह कारण है उसका असुरत्व। साधारणतया संस्कृत में असुर राक्षस को ही कहते हैं और जिस प्रकार वरुण माया से सम्बन्ध रखता है उसी प्रकार पुराणों में राक्षस भी मायावी कहलाते हैं। वास्तव में, जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है, महत् (वाक् की शक्ति) देवों का एक असुरत्व ही है; यही एक ब्रह्म को अनेक करती है, अविकारी को विकृत करती है, ज्योतिर्मय स्वरूप को शुक्ल या कृष्ण बनाती है, स्वतन्त्र आत्मा को बन्धन में डालती है। यही तो 'माया' है, जिसके भेदन से वाक् 'द्योतमाना मनीषा' होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है और माया के चक्कर में गिरते हुए (पतन्गच्छन्) पतंग (आत्मा) की असुर माया से मुक्त हो जाती है। सांख्य की 'महत्' तथा वेदान्त की माया पुरुष या ब्रह्म को इसी चक्कर में फाँस कर आत्मविस्मृत कर देने के कारण बदनाम है। इसी से छुटकारा पाने पर जीव कल्याण पा सकता है, इसी का नाश जीव का परम पुरुषार्थ है, क्योंकि वह सब से बड़ा अवांछनीय बन्धन है।

महत् का यह रूप वरुण के पाशों में भी देखा जा सकता है। वरुण के पाश वेद में बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनसे सविता[२] या वह स्वयं जीवों को बाँधता है। ये पाश अत्यन्त यंत्रणा देने वाले प्रतीत होते हैं; और एक स्थान पर पाशों को अघों के समकक्ष-सा माना गया[३] है। इन पाशों से मुक्त होने के लिये ऋग्वेद में कई स्थलों पर प्रार्थना की गई है, जिनमें से तीन बार वरुण, दो बार अग्नि, एक बार रुद्र, सोम, एक बार आदित्यों तथा एक बार मरुत का आह्वान किया गया है[४]। परन्तु, वरुण का यह रूप वेद में प्रस्फुटित नहीं होने पाया है, क्योंकि मित्र के संयोग के कारण वह उसका शुद्ध असुरत्व नहीं रह जाता, अपितु मित्र का देवत्व भी उसमें पैठ जाता है और वह सम्राज या देव कहलाने लगता है। वरुण के असुरत्व-पक्ष के दब जाने

१—वे० ऋ० वे० १०, १७७, १-३। २—वही २, ८५, २४; १, २४, १३ आदि। ३—ऋ० वे० २, २९, ५।
४—वही ७, ८८, ७; १, २४, १५, २५, २१, ६, ७४, ४, १०, ८५, २४

का कारण यह भी है कि वेद में इस पक्ष को 'वृत्र' के अन्तर्गत रख दिया गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि वृत्र तथा वरुण दोनों की उत्पत्ति है 'वृ' धातु से, जिसका अर्थ है 'ढकना'। महत् या माया आत्मा को ढक लेती है, इसीलिये इसके नाम 'वृ' धातु से बने हैं। इस पृथक्करण के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि वरुण में यह पक्ष था और इसी के कारण अवेस्ता में वह राक्षसों में गिना गया।

अब प्रश्न यह होता है कि असुरत्व का वास्तव में स्वरूप क्या है ? जैसा कि ऋग्वेद ३,५५ में लिखा है, 'महत् असुरत्व' के उत्पन्न होते ही एक से अनेकत्व की ओर गति चल पड़ती है। पिण्डाण्ड में 'विज्ञानमय' की एकीभूत शक्ति बिखर कर 'मनोमय' आदि में नाना रूपों में प्रकट होने लगती है—हमारी कामवृत्तियाँ रूपी देव शक्तियाँ नाना हो जाती (वि मे पुरुत्रा पतयन्ति कामा:[1]) हैं, जिसके फलस्वरूप हमारी स्थितप्रज्ञता नष्ट हो जाती है और नाना प्रकार की चिन्ता, शोक, अशान्ति आदि उत्पन्न हो जाते हैं; काम, क्रोध, लोभ मोह आदि का उत्पीड़न प्रारंभ हो जाता है। यही असुर हैं, जिनसे हमारी आत्मा को लड़ना पड़ता है; इनका विनाश और आत्मा (देवों) की विजय तभी होती है जब फिर स्थितप्रज्ञता लौटती है, बिखरी हुई कामवृत्तियाँ एकत्र होकर एकीभूत हो जाती है, और समाधि प्राप्त हो जाती है। भौतिक जगत में भी द्यावापृथिवी की एकीभूत सृष्टि में से आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी लोक उत्पन्न हो जाते हैं। उनमें जल, प्रकाश, पवन, आदि दैवी शक्तियाँ प्रवेश करने लगती है परन्तु इनके मार्ग में बाधा डालने वाली 'सूखा', अन्धकार, अमेध्य पदार्थ आदि अनेक वस्तुयें पैदा हो जाती हैं। यही ब्रह्माण्ड के असुर हैं, जिनसे सूर्य पवन आदि देवों को युद्ध करना पड़ता है। यथावत् रूप, जल, प्रकाश आदि तब मिलता है, जब विघ्न रूपी ये असुर नष्ट हो जाते हैं, देवों की विजय हो जाती है।

असुरत्व की यह कल्पना ध्यान में रखकर देखने से वैदिक असुरों का स्वरूप भली भाँति समझ में आ जाता है। ऋग्वेद ७,१०४;. १०, ८७; अ० वे० ८, ३ तथा ८, ४ में इनकी प्रकृति का विस्तृत वर्णन मिलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से जिन दुष्प्रवृत्तियों को असुर कहा गया है, व्यक्तियों में मूर्तिमान होकर, वही मानव-समाज तथा जीवलोक में, असुर हो जाती हैं। अत: असुर लोग 'भक्षक'[2] (अत्रिण:) कच्चा माँस खाने वाले,[3] नर-माँस-भक्षक[4] तथा पशुओं को खाने वाले कहे गये

१—ऋ० वे० ३, ५५, ३। २—ऋ० वे० ७; १, ४, १-५।
३—वही ७, १०४, २; १०, ८७, २, १९। ४—वही १०, ८७, १६।

हैं। वे क्रूर और कुकर्मी हैं[१] तथा प्रार्थना और यज्ञ से घृणा करते[२] हैं। वे क्रूर, चोर, डाकू तथा निन्दक[३] हैं, और अनृत से उनका विशेष सम्बन्ध[४] है। इसी प्रकार आधि-भौतिक जगत में असुर-अन्धकार-प्रेमी हैं[५] और सूर्य, उषा आदि को छिपा लेते हैं[६]। जल को सुखाना या अनावृष्टि (तु० क० शुष्ण) कर देना असुर का ही काम है। जिस प्रकार भौतिक प्रकाश को अन्धकार आदि असुर बाधक हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रकाश (ज्ञान) के शत्रु अज्ञान आदि असुर हैं। और सामाजिक शक्तियों के विरुद्ध-समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं।

६—अदिति, दिति और उनके पुत्र

(क) **अदिति और दिति**—वाग्देवी का ही दूसरा नाम 'अदिति' प्रतीत होता है; ललिता-सहस्रनाम में तो वह निश्चित रूप से देवी का ही एक नाम है। वैदिक साहित्य में यह सारी सृष्टि को भक्षण करने वाली[७] उसको जन्म देने वाली[८], उसमें व्याप्त रहने वाली[९] तथा उसको पालन पोषण करने वाली कही गई है। निघंटु में अदिति, पृथिवी, वाक् या गौ का नाम है। श० ब्रा० में अदिति 'वाक्' हैं[१०]। अदिति और पृथिवी का समीकरण भी अदिति को वाग्देवी या प्रकृति ही बतलाता है, क्योंकि पृथिवी न केवल स्थूल प्रकृति का प्रतिरूप होकर उक्त द्यावा-पृथिवी की कल्पना के अन्तर्गत आती है, अपितु अ० वे० १२,[११] पृथिवी द्वारा सारे

१—वही ७, १०, ४; १-७। २—वही ७, १०४, १८; २०; २१; ३।

३—वही ७, १०४, ३; ७; ८; ९; १०; १०; १०, ८७, २२।

४—वही ७, १०४, ८; १३; १४-१६; १, ८७, ११।

५—ऋ० वे० ७, १०४, १। ६—तु० क० 'वृत्र'।

७—बृ० उ० १, २, ५; श० ब्रा० १०, ६, ५, ५।

८—श० ब्रा० ७, ४, २, ७; तै० ब्रा० १, १, ९, १-३; ता० म० ब्रा० १३, ९, ५; १८, ८, १०; २४ १२।

९—ऋ० वे० १, ८९, १०; १०, ६३, २३, अ० वे० ७, ६, १-६। (५-६; श० ब्रा० ३, १, ३३)

१०—३, २, ४, १६; ६, ५, २, २०।

११—अ० वे० १२, १, ६; श० ब्रा० ७, ४, १, ७; कौ० ब्रा० ७, ६; तै० ब्रा० १, १, ६, ५; १, ४, ३, १; मो० ब्रा० २, १, १५; श० ब्रा० २, १, ४, ५, २, १, १९ २, ३, १, ४; ३, २, ३।

विश्व का सृजन तथा पालन भली भांति दिखलाया गया है और उसके मूल रूप को महत् के समान ही सलिल भी कहा गया है:—

यार्णवेधि सलिलमग्र् आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः। यस्याः हृदयं परमे व्योमन्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।

अतः अदिति को वेदों में बार बार पृथिवी कहा गया है। इसी प्रकार अदिति तथा गौ का समीकरण[1] भी अदिति के इसी पक्ष की ओर संकेत करता है। वाग्देवी अनेक स्थल पर गो रूप में कल्पित की जाती है, और उससे मिलने वाला भरण-पोषण दुग्ध रूप में। इस प्रकार का एक अत्यन्त रोचक वर्णन अ० वे० ८,९; १० में मिलता है, जहाँ गो-रूप 'सलिल' वाक् से सारी सृष्टि तथा उसके द्वारा विभिन्न लोकों को 'पोषण' का वितरण भली प्रकार दिखलाया गया है।

अदिति के भक्षक तथा पोषक दोनों रूप योरप में भी विद्यमान हैं। वैदिक साहित्य में 'अत्तीति अदितिः' तथा 'अद्यतेऽति अदितिः' ये दो निर्वचन क्रमशः भक्षक तथा पोषक अदिति को 'अद्' धातु से ही निकालते हैं।[2] संस्कृत 'अद्', जिसकी तुलना प्रायः लै edere, ग्री० edein,; आईस eta; अं० eat, ऐं० सैं० etem; ज० essen; ना, oedia से की जाती है, ग्रीस के मृत्यु देवता अदीस (Ades) या हेदीस़ (Hades) में भी है जो भक्षक अदिति का पूरा-पूरा प्रतिरूप है। अदिति का पोषक रूप यूरोपियन अदोनीस (Adonis) में देखा जा सकता है, जिसको फ्रेंजर न अपने 'गोल्डेन बांड' (Golden Bound) में बड़े विस्तार के साथ वर्णन करके 'पृथिवी' को उर्वरा शक्ति तथा खाद्य-उत्पत्ति का देवता माना है और विश्वम्भरा पृथिवी की अधिष्ठात्री देवी 'इदून्' का समकक्ष स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त नार्वे की इदा (ida) पृथिवी देवी तथा यद्दा (Edda मातामही) से भी अदिति का भाषावैज्ञानिक सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

इस प्रकार का द्विधाकरण हमने वरुण में भी देखा, जहाँ कि असुरत्व पक्ष का पृथक वृत्र में समावेश हो गया। अदिति के विषय में भी योरप की भाँति भारत में भी यही हुआ प्रतीत होता है। हिलेब्रां के अनुसार अदिति दिति (जिसे वह 'दा'

१—श० ब्रा० १४, २, १, ७; २, ३, ४, ३४; मं० ब्रा० २, ८, ५।
(६; ५, ३१, ४, ऐं० ब्रा० १, ८)

२—दे० ब्र० उ० १, २, ५, ३; श० ब्रा० १०, ६, ५, ५; ७, ४, २७; गो० ब्रा० १, २, १५; तै० ब्रा० १, १, ९, १·३।

बाँधना से निकालना है) का प्रतिलोम है। वैदिक साहित्य में दिति शब्द की उत्पत्ति 'दी' (प्रकाश करना, तु० क० दिव) तथा दा (देना) से की जाती है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय अदिति की भाँति दिति भी प्रकाशयित्री, दात्री तथा पोषयित्री समझी जाती थी। परन्तु, यास्क१ अदिति को 'दी' (नष्ट करना या होना) से निष्पन्न करके अदिति को 'अदीना' कहकर वर्णन करता है, जिससे मालूम पड़ता है कि यास्क के समय तक अदिति से असुरत्व-पक्ष चला गया था। अतः कदाचित् इसी समय के आस-पास 'दिति' पर इस पक्ष का आरोप किया गया होगा, जिससे वह न केवल अदिति की प्रतिलोम बन गई, अपितु उसके पुत्र दैत्य भी असुर या राक्षस हो गये और अदिति के पुत्र आदित्यों या देवों के स्थायी शत्रु बन गये। परन्तु मौलिक कल्पना का इस प्रकार विभाजन हो जाने पर भी, यह बात नहीं भुलाई गई कि ये वास्तव में एक ही प्रकृति या माया के दो पक्ष हैं और वह प्रकृति या माय्या ब्रह्म की शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है। अतः रामायण, महाभारत तथा पुराणों में अदिति तथा दिति एक ही 'कश्यप' की दो स्त्रियाँ हैं, जिनसे आदित्य और दैत्य उत्पन्न होते हैं।

अतः अदिति को वाग्देवी, जगदम्बा या पराशक्ति मानने में कोई बाधा नहीं मालूम होती। परन्तु अदिति के जिस स्वरूप से सृष्टि उत्पन्न होती है, वह 'अपः' है। ऋ० वे० १०, ६३, २ में स्पष्ट लिखा है कि समस्त वन्दनीय या यज्ञीय देवता अदिति पृथिवी के 'अप' से उत्पन्न हुए। इसलिये जहाँ अदिति अपने एक रूप में 'द्यावापृथिवी' अवस्था की 'पृथिवी' या 'आपः' होकर सध्रीची वाक् के समान होती है, वहाँ वह अपने अव्याकृत रूप में 'मित्रावरुण' अवस्था के 'वरुण' सदृश आध्यात्मिक 'परा' वाक् भी है। इसी अन्तिम रूप में उसका सम्बन्ध दक्ष प्रजापति से समझा जा सकता है। दक्ष ब्रह्म है; ब्रह्म से परावाक् उत्पन्न होती है और परावाक् ही निश्कल, एक तथा अद्वैत ब्रह्म को 'कारण ब्रह्म' के रूप में उत्पन्न भी करती है। ऋ० वे० १०, ७२, ४ में लिखा है कि अदिति से दक्ष उत्पन्न हुआ और दक्ष-पुत्री अदिति ने दक्ष को पैदा किया। अतः अपने 'आपः' रूप में वह जीवों को बन्धन में डालती हुई समझी जा सकती है और शुद्ध तथा सर्वोच्च रूप में वह 'आगः' या 'बन्धन' तथा 'अशौच' से मुक्त भी कर सकती है (ऋ० वे० १, २४, १५; ८, ६७, १४; ७, ५१, १), जिसके लिये उससे प्रायः प्रार्थना की जाती है। इसीलिये सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों को गिनाते हुए प्रजापति के पश्चात् अदिति का ही नाम आता है।

१—नि० ४, ४, १—२। २—का० सं० १४, ४; मै० सं० १, ११, १०।

(ख) आदित्य और मनु-यज्ञ—अदिति आदित्यों को जन्म देती है। वे सारे जगत् को धारण करते हैं; वे समस्त भुवन (विश्वस्य भुवनस्य) के रक्षा करने वाले देव हैं[१]। आदित्यों की सारी शक्ति का कारण ऋत है और उसी से ये सारी सृष्टि धारण करते हैं[२]। उनमें दिव्य ज्योति है[३] और उनके अन्तर्गत मित्र, वरुण, अर्यमा, भग, दक्ष, अंश आदि सभी देवता आते हैं; अतः प्रत्येक देव और विश्वेदेवा को भी आदित्य कहा जा सकता है[४]। इसलिये आदित्यों की संख्या निश्चित करना व्यर्थ है; प्रमुख आदित्य अवश्य विभिन्न दृष्टिकोणों से सात, आठ अथवा बारह हो सकते हैं।

मनु-यज्ञ भी आदित्यों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। मनु ने आदित्यों के लिये मनु या सप्त होताओं के द्वारा प्रथम यज्ञ किया[५] ये 'मनुप्रीतासः' आदित्य अदिति के 'अपः' से उत्पन्न [६]हुए थे। बर्गे का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि वैदिक यज्ञ के वर्णन में भौतिक जगत की शक्तियों के व्यापार का रूपक मिलता है[७]। ऋ० वे० १०, १३० से पता लगता है कि एक ही यज्ञ अनेक तन्तुओं द्वारा विश्व में फैला हुआ है; सैकड़ों देव-कर्मों द्वारा विस्तृत किया गया है; इसका सन्तान करने वाला तथा अन्त करने वाला 'पुरुष' है, जो 'नाक' (स्वर्ग) से इसका सन्तान (फैलाव) करता है। यह यज्ञ ऐसा था जिसमें देवों ने देव का यजन किया और उससे अग्नि, सविता, सोम आदि देवताओं की शक्तियाँ उत्पन्न हुईं—सारे देवता जगत् में प्रविष्ट हो गये जिससे ऋषि, पितर और मनुष्य हुए। निस्सन्देह यह प्रथम यज्ञ पुरुष-सूक्त के यज्ञ के समान है, जहाँ देवलोग पुरुष का यजन करके नानारूपात्मक सृष्टि करते हैं। इसकी तुलना उस यज्ञ से भी की जा सकती है जिसको द्यावापृथिवी आदि जैसे देवों के जनक या सृष्टिकर्ता धारण करते हुए या सृजन करते हुए कहे जाते हैं[८]। जैसे इस मनु-यज्ञ के विस्तार से सृष्टि होती है, वैसे ही 'मनु-रेतस्' के विकसित होने से भी सारे भुवन की सृष्टि होती है[९]। अतः मनु और मनु का यज्ञ उसी प्रकार एक हैं, जिस प्रकार पुरुष तथा उसका यज्ञ; साथ ही दोनों यज्ञों का परिणाम एक

१—ऋ० वे० २, २७, ४। २—वही २, २७, ८-१०।
३—वही २, २७, ९। ४—ऋ० वे० १, ६३, १-७।
५—वही १०, ६३, ७। ६—वही १०, ६३, १-२।
७—रिलीजिओ वेदीक १, पृ० ७-८।
८—ऋ० वे० ४, ५६, ६; ५८, ९; ६, ७०, ३।
९—ऋ० वे० ६, ७०, २।

ही जगत् की सृष्टि होने से मनु तथा पुरुष यज्ञ को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु, मनु-पुरुष कौन है ? इस विषय में वह बात विचारणीय है कि मनु मन या सात ऋषियों द्वारा यज्ञ करता है और यज्ञ का अर्थ है नानारूपात्मक सृष्टि। पिण्डाण्ड में हम देख चुके हैं कि नानारूपात्मक सृष्टि मनोमय में होती है, जो सब से पहले सप्तशीर्षण्य प्राणों (दोनों आँख, दो कान, दो नथुने, एक मुख) में अपनी शक्ति विभक्त करता है। वाक् या आदिति की शक्तियाँ ही आदित्य हैं, जिनके लिये 'मनोमय' पुरुष रूपी मनु 'कर्म' रूपी यज्ञ को 'मन' या उक्त सप्त-शीर्षण्य प्राण रूपी ऋषियों द्वारा संपादित करता है। इसी प्रकार के यज्ञ का वर्णन ऋ० व० १०, १२८ में देखा जा सकता है, जहाँ यज्ञ के विभिन्न अंग 'पिण्ड' में ही कल्पित किये गये हैं और कहा गया है कि इस प्रकार के यज्ञ से मन के विचार सत्य और चित्त प्रबुद्ध होता है। भौतिक जगत में 'मन' का समकक्ष 'सूर्य' है। अतः 'सूर्यमय' पुरुष ही 'मनु' है, जो सूर्य अथवा सूर्य की प्रसिद्ध सप्तरश्मि रूपी यज्ञ करवाता है। इस बात का प्रमाण ऋ० व० १०,७२ में भली भाँति मिलता है, जिसमें लिखा है:—देवों की सृष्टि के दो युग हैं, पूर्व्य युग तथा उत्तर युग। प्रथम में 'सलिल' या 'समुद्र' की अवस्था है, जिसमें सूर्य गुप्त है। दूसरी 'भुवनों' की अवस्था है, जिसमें अदिति के आठ पुत्र उत्पन्न होते हैं; आठ में से सात पुत्रों के द्वारा तो वह 'देवों' के पास जाती है और 'मार्तण्ड' को दूर फेंक देती है। सात पुत्रों के सहित वह 'पूर्व्य युग' को आती है; प्रजा तथा मृत्यु के लिय वह फिर 'मार्तण्ड' को लाती है। इस वर्णन से स्पष्ट पता लगता है कि ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियाँ काम कर रही हैं, उन्हीं को 'देव' कहा जाता है और उनका जन्म और कर्म मूलवाक् या शक्ति द्वारा 'सूर्य' या सूर्य से उत्पन्न सप्तरश्मियों से होता है, जिनको ऊपर 'देवों' के पास जाने वाले अदिति-पुत्र कहा गया है। जब 'सूर्य' का मार्ग आदित्यों (७, ६०, २) देवों (७, ६३, ५) या वरुण (१, २४, ८; १, ८७, १) द्वारा बनाया हुआ कहा जाता है, तब भी यही बात अभिप्रेत हैं। अतः सूर्य देवों का चक्षु या अनीक (१, ११५, १; ७३, ३) तथा सारे संसार का आत्मा कहलाता है।

अब हम आदित्यों के विषय में निम्नलिखित वर्णन[१] पर विचार कर सकते है।

तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुतद्यून त्रीणि व्रताविदथेअन्तरेषां । ऋतेनादित्या

१—ऋ० वे० २, २७, ८-९।

महिनो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु । त्री रोचना दिव्याधारयन्त हिरण्ययाः शुचयोधारपूता ।

पिण्डाण्ड के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि हमारे शरीर के भीतर, जितनी शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनके भीतर इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियाँ निहित हैं। यही तीन व्रत हैं, जो आदित्यों के भीतर स्थित बतलाये गये है। इन शक्तियों के क्रमशः तीन रूप बतलाये गये हैं:—

(१) स्थूल शरीर की शक्तियों में व्याप्त इच्छा ज्ञान, क्रिया ।

(२) अन्तःकरण के अंगों में व्याप्त बुद्धि, चित्त, मन ।

(३) विज्ञानमय कोष के अंगों में व्याप्त ऋत सत्य, तमः ।

इन तीन में से यहाँ प्रथम को तीन 'भूमि,' दूसरे को तीन 'द्यु' तथा तीसरे को तीन 'रोचना' कहा गया है। जैसे आध्यात्मिक आदित्यों के ये तीन तत्त्व हैं, जिनके तीन रूप हैं, वैसे ही आधिभौतिक आदित्यों में भी। अतः नीचे आधिभौतिक आदित्यों के उक्त तीन तत्त्वों का वर्णन किया जाता है।

(ग) अग्नि—पिण्डाण्ड में होने वाली क्रियाओं का विश्लेषण करते हुए, हम देख चुके हैं कि सारी क्रियाओं में तीन तत्त्व हैं, जिनके नाम क्रिया, ज्ञान और इच्छा हैं और जो क्रमशः अग्नि इन्द्र तथा सोम भी कहे जा सकते हैं। वैदिक देवताओं की 'उत्पत्ति' के प्रसंग में हमने देखा कि भौतिक जगत की सारी शक्तियाँ भी क्रमशः तीन देवताओं में ही विभक्त की गई हैं, जो क्रमशः अग्नि, इन्द्र और चन्द्र (सोम) या अग्नि, वायु, और सूर्य, अथवा अग्नि, इन्द्र और सूर्य बतलाये गये हैं। वृहदारण्यक उपनिषद आदि के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि वायु तथा इन्द्र (वैकुण्ठ) एक ही हैं, और पूना ओरियन्टलिस्ट[1] के तीन अंकों में प्रकाशित एक लेख में यह भली प्रकार दिखलाया गया है कि सोम के अन्तर्गत विश्व का सारा प्रकाश आ जाता है। अतः उक्त तीन देवताओं की जो भिन्न-भिन्न सूचियाँ दी गई हैं, उन सबका अभिप्राय केवल अग्नि, इन्द्र तथा सोम से है। यही जो पिण्डाण्ड में आदित्यों (विभिन्न शक्तियों) के तत्त्व थे, वही ब्रह्माण्ड के आदित्यों के तत्त्व हैं जैसा कि उक्त ऋग्वैदिक उद्धरण (२, २७, ८-९) से प्रकट है। इन तीनों तत्त्वों की तीन अवस्थायें हैं, जिनको भूमि, द्यौ तथा रोचना कहा गया है। अतः तीनों अवस्थाओं में इनका स्वरूप समझना आवश्यक है।

१—ऊ० उ०

अग्नि

अग्नि का भूमि-तत्त्व स्थूल-शरीर की अग्नि के तुल्य है। अग्नि का मुख्य गुण दाहकत्व है। यह देखा जा चुका है कि हमारे शरीर के भीतर उष्णता द्वारा भोजन को पचाकर शरीर की इन्द्रिय-शक्तियों (देवों) को रसादि के रूप में भोजन पहुँचाना तथा सारे शरीर को गरम रखकर उसे सर्दी या रोगों से बचाना अग्नि का काम है। हमारे शरीर के भीतर जो नाना-कर्म-रूपी यज्ञ सेन्द्रिय मन द्वारा किया जा रहा है उसका यथार्थ होता भी यही अग्नि है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में भी बिना अग्नि-तत्त्व के न किसी वनस्पति या पशु का भोजन पचाया जा सकता है, न पौधे उग सकते हैं और न जगत में कोई क्रिया ही दिखाई पड़ सकती है। अतः भौतिक जगत में भी सूर्य, वायु आदि जितनी देव-शक्तियाँ काम कर रही हैं उनका एक मात्र कारण अग्नि-तत्त्व (उष्णता) है। यदि वह न हो तो सब ठंडे और निष्क्रिय हो जायें। अग्नि हिम की औषधि **(अग्निर्हिमस्य भेषजम्)** है। अतः यही इसको दूर करके जगत् को सक्रिय कर सकता है। इसलिये नाना क्रियात्मक यज्ञ जो जगत् में प्रतिक्षण दिखाई पड़ता है, उसका अध्वर्यु, होता, पोता और यजमान आदि भी अग्नि ही है :—

हे अग्नि तूअध्वर्यु है, होता पुराना है तुही।
जन्मना पोता पुरोहित, प्रशास्ता भी है तुही॥
ऋ० वे० १,९४, ६।

होता का तेरा अग्नि और पोता का तेरा कर्म।
तू सुन्दर अग्नीध और नेष्टा का तेरा कर्म॥
करता प्रशास्ता-कर्म,और अध्वर्यु-कर्म भी तुही।
ब्रह्मा का कर्म तुही करता यजमान अग्नि है तुही॥
ऋ० वे० १, ९४, ६।

पुरोहित ! हे अग्नि ! मेरा स्तवन।
देव ! यज्ञिय ! द्रव्यदा !
होता ! हमारा स्तवन॥ ऋ० वे० १, १. १।

इसी विचार को दूसरे प्रकार से व्यक्त करते हुए अग्नि को इन कर्मों का राजा, स्वामी, अध्वर्यु, संचालक आदि के रूप में वर्णन किया गया है:—

१—ऋ० वे० २, १, १४।

२—वही १, २६, ६; ९४, ३; ५९, १।

अरे अमर तू मर्त्यलोक में आया ।
राजन् ! तूने यहाँ यज्ञ-पूजा का जाल बिछाया ।।
ऋ० वे० ३, १, १८ ।
अग्नि बृहत् अध्वर का स्वामी—
सारी आहुतियों का स्वामी ।। ऋ० वे० ७, ११.४ ।
अद्भुत अग्नि जनों के राजन् ।
धर्मों के अध्यक्ष प्रणाम ।। ऋ० वे० ८, ४३, ४० ।

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों ही में अग्नि के द्वारा ही मृत्युलोक की वस्तुयें (स्थूल वस्तुयें) रसादि में परिवर्तित होकर दिव्य शक्तियों की शक्ति को बढ़ाती हैं। इसलिये न केवल अग्नि के द्वारा सबको भोजन पहुँचता है, अपितु वह अन्य कामों में भी मर्त्य तथा अमृत (देव) के बीच मध्यस्थ का काम करता है। अतः अग्नि देवताओं का मुख है, जिसके द्वारा वे खाते हैं[1]; क्योंकि आहुति चाहे जिस देवता की दी जाये, परंतु यथार्थ में वह अग्नि में ही दी जाती[2] है। अग्नि तत्त्व के बिना पिण्डांड और ब्रह्मांड दोनों की शक्तियाँ निकम्मी हो जायें ; अतः अग्नि देवताओं को जगाने वाला कहा गया है।

वह देवताओं को नाना कर्मों में लगाता है, मानों सबको यज्ञ में भाग लेने के लिये बुलाता[3] है। कदाचित् इसीलिये उसे होता आदि कहा जाता है३; क्योंकि होता का अर्थ है बुलाने वाला। ये सारी दैहिक तथा भौतिक क्रियायें ऋत ही हैं ; अतः इन क्रियाओं का मूल कारण अग्नि ऋत का भी रक्षक कहा गया है, और इस विषय में उसे वरुण भी कहा जाता है:—

यज्ञों के, राजन् ! तुम, ऋत के रक्षक हो करने वाले ।
दीप्तिमान हो निज गृह में, तुम वर्धमान होने वाले ।।
ऋ० वे० १, १, ८ ।
भुवः चक्षु मह ऋत का गोपा वही वरुण ऋत कर्ता ।
ऋ० वे० १०, ८, ५ ।

अग्नि की गर्मी से होने वाले आरोग्य का उल्लेख किया जा चुका है। उससे अनेक प्रकार के रोग, अशक्ति, ठंड, हिंस्र पशु, अंधकार आदि दूर होते हैं। यही अप्रिय तत्त्व राक्षस हैं, जिनको अग्नि प्रायः दूर भगाता है:—

१—वही १, १२, ४ । २—वही, १, ५८, १; ७, १, १; ५ ।
३—वही ७, ११, १ आदि ।

कविमग्निमपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ।

ऋ० वे० १, १२, ७ ।

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशा नो अग्निः ऋतुभिः समिद्धः स नो दिवास रिषः पातु नक्तं ।
अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुपस्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आजिह्वया मूरदेवान् रभस्व ऋव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन् ।
उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परिपाहि राजञ्जम्भैः सं धेह्यभियातुधानान् ।

ऋ० वे०, १०,८७, १-३ ।

इस विषय में अग्नि का क्षेत्र मानव-जीवन तक ही सीमित नहीं है । पशुओं तथा वनस्पतियों में भी अग्नि का भाग है और वहाँ भी राक्षस-हनन का काम उसे वैसे ही करना पड़ता है, जैसे मनुष्य-जीवन में । अतः रक्षोऽहा अग्नि अग्नि से इन क्षेत्रों के राक्षसों पर भी विजय प्राप्त करने को कहा गया है :—

यः पौरुषेयेण ऋविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः । यो अध्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च । विषं गवां यातुधानाः पिबन्त्वा वृश्च्यन्तामदितये दुरेवाः । परैनान् देवः सविता ददातु पराभाग मोषधीनां जयन्ताम् । सनादग्नेमृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः । अनुदह सहमूरान् ऋव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ।

ऋ० वे० १०; ८७. १६ १९ ।

ऊपर के वर्णन के अनुसार अग्नि केवल इन्धन आदि से जलने वाली घरेलू आग ही नहीं है ; वह तो नाना-रूप में होकर पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के सारे नाम-रूप जगत में फैली हुई है । अतः इस रूप में उसको एक अग्नि न कहकर अनेक अग्नियाँ कहा जाता है, जो पृथिवी से लेकर आकाश तक सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई है । परन्तु इन सब का एकीभूत रूप भी है । उदाहरण के लिये अग्नि से एक से अनेक रूप होने का सकारण वर्णन कवित्व-पूर्णशैली में निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है:—

महत् तदुल्वं स्थविरं तदासीद्येनाविष्टितः प्रविवेशिथापः ।
विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एकः ।।
को मा ददर्श कतमः स देवो यो मे तन्वो बहुधा पर्यपश्यत् ।
क्वाह मित्रावरुणा क्षियन्त्यग्नेर्विश्वाः समिधा देवयानीः ।।

ऐच्छामत्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु ।
तं त्वा यमोअचिकेच्चित्रभानोदशान्तरुष्यादतिरोचमानम् ।

अग्नि के इसी एकीभूत रूप को वैश्वानर कहा गया है । इसी वैश्वानर की ही ये सारी अग्नियाँ हैं और इसी में सारे देवता (विश्वे अमृता) मादन (आनन्द-भोग) करते हैं[1], क्योंकि वैश्वानर उपर्युक्त भूमि-तत्त्व अग्नियों की नाभि[2] हैं । यह आकाश का शिर तथा पृथिवी की नाभि है[3] । पर्वतों, वृक्षों तथा मनुष्यों आदि में फैली हुई नाना अग्नियाँ उसमें वैसे ही स्थित हैं जैसे सूर्य में ध्रुव रश्मियाँ (रश्मयोध्रुवास), और वैश्वानर का नाना रूपों में विभक्त होना ही देवों द्वारा उसका विभिन्न रूप में उत्पादन करना है[4] । ऋ० वे० १०,९०,७२ में सलिल या समुद्र में छिपे हुए एक सूर्य का उल्लेख है ; जिसके व्यक्त होने पर अदिति अपने पुत्रों को उत्पन्न करने उनके द्वारा नाना रूपों में जाती है[5] । उपर्युक्त वैश्वानर, जिसकी उपमा सूर्य से दी गई है, यही सूर्य प्रतीत होता है ; अतएव वैश्वानर को 'स्वः' धारण करने वाला भी कहा जाता[6] है । वि भिन्न देवों के लिए विभिन्न 'अग्नियों' को उत्पन्न करने वाला स्वयं वैश्वानर या व्यक्त सूर्य ही अग्नि का 'द्यु-तत्त्व' है । परन्तु यहाँ 'सूर्य' से अभिप्राय सूर्य नक्षत्र से नहीं, अपितु अग्नि के उस 'द्यु-तत्त्व' से है, जो सूर्य आदि की विभिन्न भूमि-तत्त्वात्मक अग्नियों में भी व्याप्त है । यही कारण है कि वैश्वानर और सूर्य नक्षत्र का समीकरण यास्क के समय में भी उपयुक्त नहीं समझा गया था[7]

सूर्य-सूक्तों में भी जहाँ जहाँ सूर्य की व्यापकता तथा बिराटता का उल्लेख है, वहाँ इसी वैश्वानर से अभिप्राय है । ऋ० वे० १,११५ में सूर्य को देवों का 'अनीक' (चेहरा), चर-अचर का आत्मा तथा मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु कहा गया है ।(मं० १) । यह वैश्वानर तो 'व्यक्त सूर्य' है । परन्तु उपर्युक्त समुद्र सलिल में छिपे हुए अव्यक्त 'सूर्य' को देखना संभव नहीं । अतः चक्षुओं के लिए तथा शरीर के लिए ऐसा चक्षु प्रार्थना में माँगा जाता है, जिससे मानव चक्षुधारी सारे विश्व का विशेष दर्शन कर सके और सुसुंदर सूर्य का साक्षात्कार कर सके —

१—ऋ० वे० १, ५९, १ । २—वही । ३—वही १, ५९, २०, ३२, १४ ।
४—ऋ० वे० १, ५९, ५-३, ३, २, ३ । ५—६-८ ।
६—ऋ० वे० १, ५९, ४; ३, २, ७ ।
७—नि० ७ ।

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः ।
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः । संचेदं वि च पश्येम ।
सुसंदृश्यं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य । वि पश्येम नृचक्षसः ।
(ऋ० वे० १०, १५८, ५)

यह अव्यक्त सूर्य उक्त सूर्य का ही सूक्ष्म रूप है और इसमें पूर्वावस्था की वह 'प्रगति' या विकृति नहीं, जो 'सुसंरब्ध' अवस्था[1] में होती है। यही अग्नि की 'रोचन' अवस्था है।

यदि पिण्डाण्ड के साथ सादृश्य देखें तो स्थूल-शरीर में अग्नि का भूमि-तत्त्व, सूक्ष्म-शरीर (मनोमय) में 'द्यु-तत्त्व' तथा कारण-शरीर (विज्ञानमय) में 'रोचन-तत्त्व' है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। ब्रह्माण्ड में ये अवस्थाएँ क्रमशः ये हैं :—

(१) सलिल या समुद्र में गूढ़ सूर्य (रोचन)
(२) व्यक्त-सूर्य-अदिति के गर्भस्थ आठ पुत्र (द्युः)
(३) अष्ट आदित्य तथा नाना अग्नियाँ (भूमि-तत्त्व)

इनमें से सूर्य अवस्था ही नानात्व का यथार्थ कर्ता है। अतः एक सूर्य-सूक्त[2] में 'सूर्य' को विश्वकर्मा कहा गया है। यह दिव्य 'रोचन' है, जो 'स्वः' (तु० क० वैश्वानर-स्वः') रूप में ज्योति के द्वारा विविध रूप से प्रकाशित होता हुआ आता है और सम्पूर्ण भुवनों को बनाता[3] है। यह 'श्रेष्ठ' है और ज्योतियों में भी उत्तम ज्योति है[4]। इस अवस्था का और अधिक वर्णन करने से पहले सोम तथा इन्द्र के विषय में कुछ कह देना आवश्यक है।

(घ) सोम—पिण्डाण्ड के सोम का वर्णन हो चुका है। हमारे क्षणिक-संवेद, संचारी भाव, स्थायी-भाव, रस तथा सौंदर्यानुभूति या आनन्दानुभूति सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। यह हमारे जीवन का उत्कृष्टतम तत्त्व है; पतंजलि के अनुसार भी यह तत्त्व जितना ही अधिक विकसित होगा उतनी ही समाधि में शीघ्र सफलता मिलेगी। इसी के विकास की चरम-सीमा में स माधि और ऋषि-दृष्टि प्राप्त हो सकती है; इसी में काव्य-प्रतिभा तथा ब्रह्मानन्द-सहोदर रस मिल सकता है। इसी के प्रसाद से जीवन में सुख तथा शान्ति प्राप्त हो सकती है। अतः इसी को सब चाहते हैं। स्थूल-शरीर में सारे 'कर्म' सोम के द्वारा होते हैं

१—ऋ० वे० १०, ७२, ६। २—ऋ० वे० १०, १७०, ४।
३—वही। ४—वही, १०, १००, ३०।

(९६, ७, ९६, ११) ; तृतीय धाम (कारण-शरीर) का सोम ऋषि-मना ऋषि-कृत् तथा कवियों का पथ-प्रदर्शक (७, ९६, १८) है, और सूक्ष्मशरीर (मनोमय) में वह 'मतियों' का जन्मदाता [१] है। हमारे मन का रागात्मक, ज्ञानात्मक या क्रियात्मक किसी प्रकार का भी आचरण सोम के बिना नहीं चल सकता। अतः सोम से प्रार्थना की जाती है कि वह मन को उक्त तीनों तत्त्वों की ओर संचालित करे ; क्योंकि उसके (सोम के) "ऽदि-स्पृशः कामाः" यथार्थ में हमारे जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विद्यमान हैः—

भद्रं नोऽपि वातय मनो दक्षमुत क्रतमु ।
अधा ते सख्ये अन्धसो विवोमदे रणन् गावो न यवसे विवक्षसे ।
हृदिस्पृशस्त आसते विश्वेषु सोम धामसु ।
अधा कामा इमे विवोमदे वि तिष्ठन्ते वसुयवो विवक्षसे ।।

अपने शुद्धतम रूप में इच्छा-शक्ति या सोम ब्रह्म का आनन्द स्वरूप ही है, सारे देव और मनुष्य जिसको मधु कहते हुए सर्वत्र घूमते हैं, वह यथार्थ में हमारा भीतरी प्राण या जगदम्बा अदिति ही है। उस सोम को पीते ही हम अमृत हो जाते हैं, हमें 'ज्योति' प्राप्त हो जाती है और हमको देवता मिल जाते हैं[२]। यही समाधि की अवस्था में आनन्दानुभूति है।

ब्रह्माण्ड के सोम का गुण भी प्रकाशत्त्व है। वास्तव में वह है ही प्रकाश। अतः सोम सूर्य के समान है या सूर्य के साथ चमकता[३] है। वह अपने प्रकाश से अन्धकार को मारता[४] है। वह सूर्य[५] और विद्युत[६] से उत्पन्न होता है तथा पर्जन्य सोम का पिता[७] है। सूर्या सूक्त (ऋ० वे० १०,५-८) में उल्लिखित सोम भी चन्द्रमा ही है, जो आज मिट जाता है और कल फिर पहले ही जैसा हो जायेगा। ब्राह्मणों में तो चन्द्रमा का देव सोम कहा ही गया[८] है। इससे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड में प्रकाश मात्र को 'सोम' कहा जा सकता है। अतः सोम से प्रार्थना[९] की जाती है कि वह 'द्यु' लोक से पृथिवी पर दीप्तिमय वृष्टि करे।

१—ऋ० वे० ७, ९६, ५। २—ऋ० वे० ८, ४८, १-३।
३—वही, ९, १, ६; ७२, ३; ११३, ३।
४—वही, ९, ९, ७, ९, १६-२२; ६६, २४; १००, ८; १०८, १२।
५—वही, ९, ९३, १। ६—वही, ९, ८२, ३ तु० क० ११३, ३।
७—ऋ० वे० ९, ८२, ३ तु० क० ११३, ३। ८—ऐ० ब्रा० ७, ११, ८।
९—ऋ० वे० ९, ८।

उषा तथा सूर्य के समान अपनी किरणों से भरने अथवा परिपूर्ण करनेवाली[१] या सारे विश्व को सूर्य तुल्य ओत-प्रोत करने वाली यह द्युतिमय शुक्र-वृष्टि अथवा सोम-सर[२] या तो हमें समाधि अनुभूत ज्योतिवृ ष्टि में मिल सकता है या प्रतिदिन होने वाली सूर्य-प्रकाशवृष्टि में ।

अग्नि की भाँति सोम को भी त्रिपदस्थ[३] कहा जाता है, क्योंकि वह तीन स्थानों में रहता है और उसके तीन 'पवित्र' [छलनियाँ] फैले हुए[४] हैं । अग्नि के समान सोम के भी ये तीनों स्थान पिण्डाण्ड में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-शरीर और ब्रह्माण्ड में क्रमशः भूमि, द्यु तथा [दिवस्पद] रोचन प्रतीत होते हैं । एक दृष्टि से 'कारण' शरीर या 'विज्ञानमय' कोश ही एक 'पवित्र' है, जो सारे अंगों में अपना जाल बिछाये हुए है, और जिससे ब्रह्मणस्पति सोम के बिन्दु छन-छन कर चारों ओर छितराते[५] हैं । उसी प्रकार ब्रह्मांड में 'दिवस्पद' ही एक 'पवित्र' है जिससे अनेक दीप्तिमान तन्तु 'दिवस्पृष्ठ' पर स्थित होते हैं, और प्रथम उषाओं [अग्रियः उषसः] के रूप में नाना भुवनों का भरण-पोषण करते हैं और इसकी माया से मायावियों का निर्माण होता है—मनुष्य तथा पितरों का गर्भ पड़[६] जाता है । तीनों स्थानों को तीन पृष्ठ कहा जाता था, अतः सोम प्रायः त्रिपृष्ठ भी कहलाता है । इनमें से दिवस्पृष्ठ का उल्लेख प्रायः मिलता[७] है ।

पेय सोम—पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के सोम की कल्पना वास्तव में पेय सोम के आधार पर हुई है, और यद्यपि आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सोम का ही वर्णन वेद में प्रधान है, फिर भी कर्मकाण्ड में पेय सोम को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है । अतः 'पेय' सोम का रूप निर्धारित करना आवश्यक प्रतीत होता है । सोम का मुख्य नाम 'मद' है, यहाँ तक कि सोम-पान की सारी क्रिया भी 'मद' धातु से ही व्यक्त की जाती है । मद शहद का नाम[८] है और आधुनिक विद्वानों की सम्मति में इसका सम्बन्ध भारोपीय धातु melit से है, जो अनेक भाषाओं में इस प्रकार[९] फैली हुई है :—

लेटिन—mel 'शहद' ।

ग्रीक–मmeli 'शहद' ।

१—वही, ९, ४१, ५ । २—वही, ९, ५४, १-४ ।
३—९, १०३, २ । ४—९, ९७, ५५ । ५—९, ८३, १ ।
६—वही अनु० । ७—८६, २७; ९, ६३, ३ । ८—नि० ११, १ ।
९—दे० Bender : The Homes of Inds Europeans. P–19

अलवैनियन—mijal 'शहद'
गौथिक—milip 'शहद'।
ऐंग्लोसेक्सन—milisc 'शहद सा मीठा'।
mildeaw 'शहद सी ओस'।
कार्निश—mel 'शहद'।
पु आइरिश—mil 'शहद'
आर्मीनिअन—metr 'शहद'।

इस सूची में ऐंग्लोसैक्सन mele और जोड़ा जा सकता है। ये सभी शब्द संस्कृत 'मद' से निकले हुए हैं ; इसकी पुष्टि निम्नलिखित शब्दों से भी होती है, जिनमें से द, ल तथा ड एक दूसरे के स्थान में आ सकते हैं :—

[१] इं० milk=ज० milch=ऐं० सै० meolc; melolc.
(mel मदolc उदक)
[२] सं० मृदु=इं० mellow=ऐं० सै० mearw.
=डच murw
[३] सं० मृलीक=डच, mollig=ऐं० सै milisc.
=ग्री० malakos=लै० mollis
[४] सं० ईदृश (क्)=ऐं० सै० ilc या ylc=ई० ilk (इस प्रकार)
[५] वै० नील, सं० नीड=लै० nidns=फ्रें-nid=हि० नीड़
=ऐं सै० nest[१]
[६] सं० ऋभु[२]=प्र० ibhu=लै० Abbhus=ऐं सै Abbe
=ऐं० सै० Aelf=आइस. Alfr,
=स्वे० elf=इं० elf.
=ना० Alfne.

आधुनिक विद्वान् भारोपीय भाषाओं में 'मद' की पर्यायवाची धातु melit

---

१—तु० क० ऐंग्लोसैक्सन nestlian, इं० nestle, सं० निषण्णः।
२—Kubn's Zeitschrife, 4, 103-20; Wacker, K Z, 24 297; Neve, essai Surle myth des Ribhvas 263; Macdonell Vedic Mythology P. 134; Carnoy Les, Indo Europeans. P. 210; Keith, Rel. Ved. up. 38.

के अतिरिक्त meduh भी मानते हैं जो विभिन्न भाषाओं में निम्नलिखित रूपों में पाई जाती है :—

"संस्कृत मधु (शहद, मीठा पदार्थ) ; मधुकर (मधुप), पु० बल्गेरियन medu (शहद); लेथुआनिअल medas (शहद), medu (शहद-दूध का मिश्रण); ग्रीक medhn (मादक पेय) mede 'मादकता'; पु० हा० जर्मन meto (शहद-दूध का मिश्रण); डच mead; वेल्श medu; अँग्रेजी "mead"[१] इस सूची में जर्मन met या meth भी सम्मिलित किया जा सकता है।

उपर्युक्त 'मद' तथा 'मधु' शब्दों की परीक्षा से प्रतीत होता है कि वास्तव में ये दोनों शब्द एक ही मूल धातु 'मद्' से निकले हैं। मधु केवल मद् + दुह का संयुक्त रूप है ; इसी कारण 'मधु' से निकले हुए शब्दों का अर्थ प्रायः शहद-दूध मिश्रण होता है। अतः मधु शब्द में 'मद' की मिठास के साथ तुलना अभिप्रेत प्रतीत होती है। इसी प्रकार अं० milk, ज० milch ऐं. सै. meole, mal ole, सं. मद् उदक से मालूम पड़ता है कि दूध की मिठास शहद-पानी के मिश्रण के समान समझी जाती थी; इसीलिये इसका नाम meolc आदि रक्खा गया।

इस प्रसंग में यह बात याद रखने योग्य है कि मद तथा मधु दोनों ही सोम के नाम हैं और भारोपीय युग में शहद का उपयोग बहुत होता था। प्राचीन ग्रीक साहित्य में 'फिलामेन और बासिस' की कहानी उन्हीं दिनों की याद दिलाती है। भारतीय कर्मकाण्ड में 'मधुपर्क' का उपयोग उन्हीं दिनों का अवशेष है। यूरोपियन परम्परा में शहद-दूध या शहद-पानी का मिश्रण अथवा शुद्ध शहद देवताओं को दिया जाता था। भारतवर्ष में भी मद (सोम) शुद्ध अथवा जल या दूध के मिश्रण के साथ देवताओं को दिया जाता था। शुद्ध सोम इन्द्र तथा वायु को दिया जाता था जो इसीलिये 'शुचिया'[२] कहे जाते हैं। दूध के साथ मिलाकर उसे और देवताओं को दिया जाता[3] था।

भारोपीय जीवन में मद अथवा मधु उतना ही लोकप्रिय मालूम पड़ता है जितना वेद में सोम। इसीलिये जो मद या मधु सी मीठी होती थी, उसे मधु

१—Bender :. Home of Indo Europeans, 19.

२—Macdonell; Vedie Mythology P. 102.

३—ऋ, वे, ९, १०८, १५।

कहते थे। परमानन्द की शिक्षा देने वाली विद्या 'मधु-विद्या' या 'मधु-ब्राह्मण' कहलाती[1] थी। परम लोक के रूपक में भी आनन्द के प्रतीक मधु की नदियाँ हैं और वहाँ के निवासियों को भी मधु-मादन करते हुए बताया जाता है। अत्यंत उपकारी देवताओं के नाम भी मधु-कशा[2], प्री-मेथुस, एपीमेथुस आदि मधु से ही निकले हुए हैं। मधुच्छन्दर्स एक ऋषि का नाम है; मदूघ (वै०) medic या medick (अंग्रेजी) medica (लैटिन) medicke (ग्रीक) तथा मदवती (संस्कृत) मधुर तथा गुणकारी पौदों के नाम[3] हैं। देवों का प्रसाद मधु सा मीठा था और स्वर्गीय तथा पार्थिव आनन्द की तुलना भी मधु से की जाती थी; अतः 'मद्' का अर्थ ही हो गया—'भोगना या आनन्द मनाना[4]'। प्रिय-दर्शन पक्षी का नाम मद्‍गु (तै० सं० ५,५, २०, १; मै, सं० ३, ४, ३ ; वा, सं० २४, २२,३४; छा० उ० ६,८,१,२) अथवा ऐसा ही कुछ और रक्खा जा सकता था। नीचे दिये हुए ऋ० वे० १०.६८.८ में उल्लिखित दिव्य सोम के एक रूपक में मधु (सोम) निकालने का जो वर्णन है उससे भी प्रतीत होता है कि सोम शहद ही था:—

अश्नाऽपिनद्धं मधुपर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनिक्षियन्तम्।
निषाज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेण विकृत्य॥

अर्थात् "चट्टान से ढके हुए मधु को, क्षीण जल में रहते हुए मत्स्य के समान बृहस्पति ने देखा और विरव से काट काट कर उसी प्रकार निकाल लिया जिस प्रकार वृक्ष से चमस। यद्यपि यहाँ दिव्य सोम का प्रसंग है, फिर भी पार्थिव पेय के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

१—श, ब्रा, ४, १, ५, १८; १४, १, ४, १३; बृ, उ, २, ५, १९, तु, क, Weber Indische Studien, ३, ४, १०

२—ऋ, वे, १, १५४; ३, ६९, ७; ९, ११३ १–३।

३—ऋ, वे, १, २२, ३! ६७, ४; अ, वे, १०, ७, ७९; पं, वि, बा, २१, १०, १२ तु. क, Rothd St Petersbrg Dietionary.

४—वे, ऋ, वे, ६, ७०, १; ५; अ, वे, १, ३४, ४; ६, १–२, २ तु. क, Weber Indische Studien ५, ३८६; ४-४ Whiten Trd. Atharvaveda ३४, ३५, ३५४, Bloomfield A V. 275; zimmer. A. D L 69;

५—तु, क, वैदिक 'मादयस्व मदयि' आदि जो ऋ, वे, प्रायः प्रयुक्त होते हैं।

(१) मधु चट्टान से ढका हुआ था।

(२) बृहस्पति ने उसे ऐसा घना या अधिक देखा जैसा जल क्षीण होने पर मत्स्य समूह।

(३) पूरा मधु नहीं निकाला गया; जो निकाला गया वह ऐसे जैसे वृक्ष में से एक चमस।

(४) मधु काट कर निकाला गया।

(५) काटने का उपकरण 'विरव' था, जिससे काटने पर एक शब्द नहीं होता था।

इस वर्णन को अच्छी तरह समझने के लिये मधु-मक्खी का पालन तथा उसके छत्ते से मधु को निकालने की विधि ध्यान में रखना आवश्यक है। आजकल भी हमारे देश के पहाड़ी लोग मधु-मक्खी पालते हैं। वे कभी कभी पहाड़ी की चट्टान में ही एक ऐसी 'दराज' बनाते हैं, जिसमें एक ओर तो बहुत छोटा सा छेद मधु-मक्खियों के आने जाने के लिए रखते हैं और दूसरी ओर बहुत बड़ा द्वार होता है, जो पत्थर से अधिकांश ढका रहता है और केवल कुछ खुला रहता है, जिसमें से मनुष्य प्रतिदिन बढ़ते हुए शहद के छत्ते को देखता रहता है। जब छत्ता पर्याप्त बढ़ जाता है तो वह धीरे से थोड़ा सा शहद काट लेता है और शेष रहने देता है, जिससे मधु-मक्खियाँ उस स्थान को छोड़कर भागें नहीं। सन् १९२१ ई० में स्पेन में प्राप्त एक प्रागैतिहासिक आलेख्य[१] से पता लगता कि यही प्रथा उन दिनों योरोप में भी प्रचलित थी; अतः बहुत संभव है कि भारोपीय काल में भी इसका प्रचार हो। उक्त आलेख्य में एक मनुष्य रस्सी की एक सीढ़ी से शहद निकालने के लिये चढ़ रहा है; रस्सी जिधर से मक्खियाँ आ जा रही हैं उधर न लटक कर दूसरी ओर लटक रही है, जिससे मधु-मक्खियाँ डरें या घबरायें नहीं। चित्र में मनुष्य केवल लँगोटा बांधे हुए है और केवल दो एक मक्खियाँ छत्ते में से आ जा रही हैं। इसके विपरीत आजकल मैदानों में किसान धुएँ से मक्खियों को उड़ाकर और अपने शरीर को कम्बल से लपेट कर जाते हैं और पूरे छत्ते को काट लेते हैं।

सोम-याग के अन्तर्गत सोम-विक्रय कर्म-काण्ड में भी मधु-मक्खियों से मधु छीनने की झलक दिखाई पड़ती है। यह कर्मकाण्ड खरीदने तथा लूटने का मिला-जुला रूप है, क्योंकि दिव्य सोम 'वाक्' मूल्य रूप में देकर गन्धर्व से खरीदा जाता है और पार्थिव सोम मधु-मक्खियों से छीना जाता है। इनमें से प्रथम का अभिप्राय

१—दे० "The Literary Digest" September 1921.

तो आगे चलकर व्यक्त किया जायेगा; परन्तु सोम का छीनना या लूटना अवश्य ही इस कर्मकाण्ड में सुरक्षित है, यहाँ तक कि सोम-विक्रेता शूद्र को मारपीट (कदाचित् दिखावटी) के बाद मूल्य देकर भगा दिया जाता है और उसके विषय में कहा जाता है कि "वह उसी तरह रोता चिल्लाता जाता है, जिस प्रकार मधु लुटने के बाद मधु-मक्षिका"।

ऋग्वेद में एक स्थान[1] पर तो स्पष्ट रूप से सारघ (मधुमक्खी का) मधु को ही सोम कहा गया है। यहाँ पर इन्द्र को सारघ मधु से मिले हुए दूध (धेनवः द्रवः) को पीने के लिये आमन्त्रित किया गया है; और इसी पेय को फिर सोम तथा इन्द्र का भोजन कहा गया है जिसके लिए इन्द्र प्यासा रहता है। मधु-मक्खियों के मधु तथा सोम की एकता ऋ० वे०, २, २४, ४ में स्पष्ट है, क्योंकि यहाँ पार्थिव मधु-प्राप्ति के रूपक द्वारा दिव्य मधु की प्राप्ति बतलाने के प्रसंग में कहा गया है ब्रह्मणस्पति ने जिस अश्मास्य (पत्थर जिसके मुख पर था) अवांगमुखी मधुधार को चीर निकाला उसको सारे देवता भोगते हैं और उसी से अनेक एक-समुद्री[2] को सिञ्चित करते हैं। ऋ० वे० ३, ५३, १० में प्रयुक्त "नैचाशाखं"[3] के आधार पर विद्वानों का कहना है कि सोमवृक्ष की शाखायें नीचे की ओर को होती थीं। परन्तु, यदि इसका कुछ भी ऐसा अर्थ है, तो वह मधु के छत्ते के लिये ही अधिक उपयुक्त है, जिसकी जड़ ऊपर को तथा अनेक अधोमुखी शाखायें होती हैं।

(ङ) **सोम-वृक्ष**—(१) अरुण-वृक्ष—लोगों के हृदय में यह बात अच्छी तरह बैठी हुई है कि सोम का एक पौदा, लता या वृक्ष होता है। अतः कई विद्वानों ने इसे ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया। परन्तु तारीफ की बात यह है कि सूत्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यह दुर्लभ[4] वस्तु मानी जाती है और उसके स्थान पर विभिन्न पौदों के प्रयोग का विधान किया जाता है। सुश्रुत के अनुसार

१—ऋ० ८, ४, ८–११।

२—दे० ऊ० 'आप' के अन्तर्गत 'समुद्र', की कल्पना।

३—तु० क० सायण के अनुसार इसका अर्थ 'नीच जन्म वाला' है; लाटचायन श्रौत (१०, १९, १३) के अनुसार 'स्थान का नाम' है; ग्रासमान, लुडविग तथा त्सिमेर प्रथम अर्थ को मानते हैं, जबकि हिलेब्राँ के अनुसार इसका अर्थ 'अधोमुखी शाखाओं वाला' है (वैदिक मैथोलोजी १, १४, १८; २, २४-१ २४५)।

४—Max Miuller Achademy 25th October 1881.

तो वह ऐसी रहस्यमयी लता है, जिसको अधर्मी कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मण द्वेषी देख् ही नहीं सकते :—

न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ।। (सुश्रुत २९)

ऋ० वे० १०,९४,३ में 'अरुण वृक्ष' की शाखा का उल्लेख है जिसके आधार पर विद्वानों ने अनुमान किया है कि सोम का तना लाल होता होगा । परन्तु, सम्पूर्ण सूक्त पर विचार करने से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि वहाँ पर एक रूपक द्वारा आधिभौतिक और आध्यात्मिक सोम का वर्णन किया गया है । मधुमक्खियों के छत्ते प्रायः पहाड़ी चट्टानों या वृक्षों में पाये जाते थे; अतः दिव्य-सोम (प्रकाश) के विषय में भी यही कल्पना की गई । नक्षत्र मण्डित आकाश तथा मधुकोष्ठक-मय छत्ते में स्वाभाविक सादृश्य था । चन्द्रमा के द्वारा वह सारा सोम निकलता हुआ माना जा सकता था । अतः जिस प्रकार इस सोम का जन्म उल्लिखित पहाड़ी चट्टान से सम्बन्धित किया गया, उसी प्रकार उक्त नक्षत्रों के छत्तों के लिए भी एक वृक्ष की कल्पना की गई । आकाश तो उस वृक्ष की डाली ही है, जिस पर नक्षत्रों का छत्ता लटका हुआ है । अतः वह वृक्ष तो ज्योतिर्मय विश्व-वृक्ष ही हो सकता है । यही वरुण (प्रकृति) का अरुण (उज्वल पक्ष) वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर को है (नीचीन स्युरुपरि बुध्न एवाऽस्मे अन्तर्निहिता केतवाः स्युः) ; और इसी के आधार पर ऊर्ध्वमूल संसार-वृक्ष की भी कल्पना की गई है, जो न केवल मधु के छत्ते पर ही ठीक बैठती है, अपितु हमारे पिण्डाण्ड पर भी भली भाँति लागू हो जाती है ।

अतः उक्त सूक्त (१०,९४) में आकाशीय सोम के रूपक द्वारा आध्यात्मिक सोम का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है । ब्रह्मांड के समान पिण्डाण्ड में भी प्रकाश तथा अन्धकार का खेल मचा हुआ है । नेत्र और कान मूँदकर जब साधक ध्यान करने बैठता है, तो उसे अरुण आकाश में अनेक अन्धकार-घन उठते हुए दिखाई पड़ते हैं ; और साथ ही वह घन-गर्जन की सी ध्वनि भी सुनता है । इन्हीं बादलों को उक्त सूत्र में ग्रावा, सोमधारी अद्रि या पर्वत कहा गया है, जो सैकड़ों और सहस्रों के समान शब्द करते हैं, जो फैलनेवाले (विष्ट्री) हैं, अरुण वृक्ष की शाखा (आकाश-ज्योति) को खाते हुए फैलते हैं । और अपनी बहनों (विद्युत रेखाओं) के साथ नाचते हैं तथा पृथ्वी को जलधरों से आघोषित कर देते हैं ; ये 'सुपर्ण' हैं, जिनके शब्द (वाचं) करने पर दिव्य अग्नियाँ (इषिराः) कृष्णा होकर नृत्य करने लगती है और 'सूर्यश्वित' रेतसपुरु (वहु) रूपों

में स्थापित हो जाता है; वे एक साथ। जुड़े हुए (साकं-युक्ता) तथा धुर धारण किये हुए वृषभों के समान बहते हुए आते हैं। यहाँ पर कृष्ण होकर नाचने-वाली दिव्य अग्नियाँ अथवा 'सूर्यश्वित' रेतस के नाना रूप उक्त बादलों से बरसने वाले भौतिक जलबिन्दु तथा आध्यात्मिक सोम—कण हैं। जिस प्रकार आध्यात्मिक सोम-रस दश इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होता है, उसी प्रकार भौतिक सोम (प्रकाश) भी दश दिशाओं द्वारा व्यक्त होता है। अतः ये सोमधारी आद्रि 'दशयन्त्रों वाले' कहे गये हैं। जिनके विभिन्न प्रकार के दश-दश अंग बतलाये गये हैं :—

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यो
दशाभीशुभ्यो अर्चताजरेभ्यो दशधुरो दशयुक्तावहद्भ्यः
ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येतिहर्यतम् ।

इसलिये, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त प्रसंग में वर्णित 'अरुण वृक्ष' कोई पौदा नहीं अपितु प्रकाश का विश्व-वृक्ष है। इस प्रकार के विश्व वृक्ष की कल्पना अन्य देशों के साहित्य में भी मिलती है।

(२) अस-यग्ग-द्रसील—नार्वेजिअन साहित्य में 'असयगद्रसील' नामक ऐसा ही एक वृक्ष है। वह सारे विश्व में फैला हुआ है—उसकी शाखायें नीफल हाइम (निम्नधाम या पाताल) की गम्भीरतम गहराइयों, मिदगर्द (मध्यगत या अन्तरिक्ष) के सारे प्रदेशों तथा अस-गर्द (स्वर्गलोक) के कोने कोने में फैली हुई है। उसकी उच्चतम शाखा लेराद शान्ति प्रदायिनी है, जो ओदीन (आकाश का अधिष्ठाता देवता) के गृह पर छाया किये हुए हैं। लेराद के उपर एक गीध बैठा हुआ है जिसके नेत्रों के बीच 'वेदफोलनीर' नाम का एक श्येन बैठा है, जो अपनी दृष्टि तीनों लोकों में फेंकता हुआ वहाँ की सारी घटनाओं को जान लेता है। गीध तथा श्येन का मिलाकर वही काम है जो ग्रीस के सूर्य देवता 'हेलिअस' का है। अतः गीध को सूर्य तथा श्येन को सूर्य की किरण-संहति कहा जा सकता है। यह सदा हरा रहने वाला तथा कभी न मुरझानेवाला वृक्ष है, जिसके पत्तों को देवों के मृग नक्षत्र चरा करते हैं। चन्द्रमा ओदीन का 'हाइद्रोब' नामक बकरा है, जो इस वृक्ष को अपना चरागाह वनाये हुए है। यह चन्द्र रूपी मीड (सोम) का प्रमुख स्रोत है, यद्यपि मृगरूपी नक्षत्रों से भी इसकी प्राप्ति होती है। इसी वृक्ष की शाखाओं तथा पत्तियों द्वारा जो 'दिव्य जल' टपक पड़ता है उसी से मधुमक्खियाँ छत्तों में शहद बनाती हैं। मृगरूपी नक्षत्र भी प्रतिदिन मधुमती ओस टपकाते हैं।

इस वृक्ष[1] पर देवों का भाग्य आश्रित है और इसी में प्रतिदिन देवों की बैठक होती है, परन्तु यह सुरक्षित नहीं है। नीफल हाइम (पाताल) के हर्गेनीर नामक कुंड में एक नीधूंग नाम का राक्षस है, जो अंधकार रूपी असंख्य कीड़ों के साथ इस वृक्ष की जड़ों को काटा करता है, क्योंकि इस वृक्ष के गिरते ही 'अस' (स्वः) प्रकाश नष्ट हो जायेगा, और फलतः देवता मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे :—

"Through all our life a temper prowls malignant,
The cruel Nidbhng from the world below.
He hates Asa light whose rays benignant glow.
On the hero's brow and giittering sword bright.
(Viking Tales of the North tr R B. Anderson)

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार वैश्वानर के 'स्वः' से सारे देवताओं का पोषण होता है और वे स्वदृशः या 'स्वर्यः' कहे जाते हैं, उसी प्रकार नार्वेजिअन देवता भी अस अस (स्वः) के सहारे जीते हैं तथा असीर (Alsir) कहलाते हैं।

(३) गेओकेरेन, श्वेतहोम (सोम) का वृक्षः—ईरान में सोम को होम कहा जाता है और वह श्वेत तथा पीत दो प्रकार का है। पीत होम तो पार्थिव पेय है और श्वेत होम स्वर्गीय। श्वेत होम का वृक्ष गेओकेरेन है, जिसका वर्णन अस यग्गद्रसील से बहुत कुछ मिलता है। अस-यग्गद्रसील की भाँति यह वृक्ष भी सारे विश्व के पुनर्जीवन तथा भावी अमरत्व के लिये आवश्यक है। अस-यग्गद्रसील 'मिमीर' कूप के तट पर है और गेओकेरेन की बड़ के पास 'वउरू कश' सागर है, जिसमें सहस्रों झीलों के बराबर जल है। इसमें 'अद्रीसूर' से सहस्रों स्वर्ण-नलिकाओं द्वारा गर्म तथा स्वच्छ जल आकर भरता रहता है। निस्सन्देह यह गर्म तथा स्वच्छ जल सूर्य का प्रकाश है, जो 'ऋत्वी सूर्य' (अर्द्रीसूर) से आकर 'उरूख' (वउरु कश) में जमा होता है। 'वउरु कश' को ही अवेस्ता में 'असहे खओ' तथा ऋग्वेद में 'ख ऋतस्य' और 'उत्स उद्दीर्णम्' कहा जाता है। पृथ्वी से एक सहस्र मनुष्यों की ऊँचाई पर से एक स्वर्णिम शाखा उस गर्म जल के स्रोत से निकल कर 'वउरु कश' में होती हुई पृथिवी को आती है, जिससे शुष्क

१—तु० क० यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवै संपिबते यमः। ऋ० वे० १०, १३५, १; तै० आ०।

वातावरण आर्द्र हो जाता है और 'अहुरमज्द' की सृष्टि को आरोग्य प्राप्त हो जाता है।

परन्तु अहुरमज्द तथा देवताओं का कट्टर शत्रु 'अंग्र मैन्यु' इस वृक्ष को पसन्द नहीं करता। अतः नार्वेजिअन 'नीधूंग' की भाँति इस अन्धकार के दैत्य ने एक छिपकली उत्पन्न कर रखी है, जो वृक्ष की जड़ों को धीरे धीरे काट रही है। पृथ्वी पर मनुष्य के आगमन से पहले 'अग्रमैन्यु' ने बड़े बड़े घातक तथा भयंकर जन्तु उत्पन्न कर रक्खे थे, जिनके विनाश के लिये 'तिष्ट्र्य' नामक सूर्य देवता ने होम (सोम) की वर्षा की। अतः दस दिन तथा दस रात तक होम अपने तीनों रूपों में बरसता रहा, जिसके फलस्वरूप बहुत बड़ा जल-प्लावन हुआ और सारे दुष्ट जन्तु मिट गये।

पार्थिव होम श्वेत-होम से भिन्न है। यह अलबुर्ज पर्वत पर उत्पन्न होता है। परन्तु, यह पहले स्वर्ग में था, जिसको एक दिव्य पक्षी इस पर्वत पर ले आया। इससे यह प्रतीत होता है कि दिव्य होम तथा पार्थिव होम का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न यहाँ भी किया गया है।

(४) **प्रसव का पौदा**—बैबीलोन के साहित्य में एक अद्भुत पौदे का उल्लेख मिलता है, जिसको 'प्रसव का पौदा' कहा जाता है। सोम या होम की भाँति इसका सम्बन्ध भी 'शमश' या सूर्य से है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले यह पौदा भी आकाशीय प्रकाश-वृक्ष था, जिसके कारण ही सारे देवताओं का जन्म तथा जीवन होता था। परन्तु, कालान्तर में उसे सचमुच एक पौदा समझा जाने लगा।

(५) **अंधस, तथा कथित सोम-वृक्ष**—कुछ विद्वानों[१] ने पार्थिव सोम के वृक्ष का नाम 'अंधस्' बतलाया है। परन्तु उनका यह मत पर्याप्त छानबीन का परिणाम नहीं लगता। वैदिक 'अंधस्' प्रायः ग्रीक 'अंथस' (Anthos) का समकक्ष माना गया है[२]। ग्रीक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में हुआ है:—

(१) कली या फूल।

(२) तेज या पुष्प।

(३) रूपक में—जीवन का तेज या पुष्प, वर्ण का ओज; यौवन की दीप्ति।

१—Macdonell Keith; Vedic Index, P. 476

२—Henary Geogre Siddell Robert Scott: Greck English Lexicon VIII ed. P. 128.

(४) सोने की चमक या प्रभा।

(५) रंगीला, चमकीला।

(६) सुपर्ण-पक्षी।

उक्त अर्थों में देखने से प्रतीत होता है कि ग्रीक शब्द 'अंथस्' में चमक या प्रभा का भाव प्रधान है। यही भाव वैदिक 'अंधस्' में भी विद्यमान है। अतः दीप्तिमती नदियाँ 'अंधसी' कही जाती हैं। अंधस इन्द्र का वज्र है, जिसके द्वारा इन्द्र नदी-वृत वृत्र को मारता है और बल की परिधि को तोड़ता है। जैसा आगे इन्द्र के प्रकरण में बताया जायेगा, यह वज्र विद्युत अथवा सूर्य का प्रकाश ही है। चन्द्र तथा चन्द्र-प्रकाश को भी अंधस कहा गया है, जो देवताओं की वीति (मार्ग या गति) पर चलने वाला है और देवता लोग इन्दु (चन्द्र) मधु के अंधसों को खाने वाले हैं[१]। परम व्योम में उत्पन्न होने वाला तथा वृत्र-वध के लिये प्रवाहित होने वाला सोम भी निस्सन्देह सूर्य या विद्युत का प्रकाश[२] ही है। श्येन द्वारा स्वर्गलोक लाया गया अरुण अन्धस[३] भी, जैसा आगे बतलाया जायगा, कोई पार्थिव पौदा नहीं हो सकता।

पीला सा रंग तथा चमक होने के कारण पार्थिव, सोम (मधु) के लिये भी 'अन्धस्' का प्रयोग हुआ है। अतः इन्द्र को पृष्ठि-सहित अंधस पीने के लिये आमन्त्रित किया जाता है[४]। मैक्डानेल तथा कीथ[५] का मत है कि 'पृष्ठि' का अर्थ 'पहलदार' (अठकोना चौकोना) आदि पौदा है। यथार्थ में मोम के कोष्ठक, जिसके अन्दर छत्ते में मधु रहता है, पहलदार ही होते हैं, अतः पृष्ठि-सहित सोम का अर्थ होगा 'मोमकण सहित मधु'। अतएव 'वीतपृष्ठ' सोम का भी उल्लेख मिलता है और एक बार सूर्य को ही वीतपृष्ठ हरित कहा गया है[६]। जिस त्वचा में से 'अंधस' या मधु निकलकर बहता है, वह पौदे की छाल नहीं, अपितु मोम की पपरी है[७], जिसका कि प्रत्येक कोष्ठक बना रहता है और जिसमें से मधु ऐसे निकल जाता है जैसे केंचुल से सर्प[८]। यह पपरी शब्द कदाचित् 'वव्रि'[९] से निकला है, जो कि वेद

१—९, ५१, ५; १०, ११५, ३। २—९, ६१, १०; १९, २०, १२।
३—९, ९, ८६; १०, १४४ तु० क० ५, ४५, ३; ९, ६१, १०।
४—४, २, ५। ५—**वैदिक इन्डेक्स, दे० '३०' 'सोम' या अन्धस।**
६—५, ४५, १० तु० क० १, १८, २; ८, ६, ४२।
७—९, ८६, ४४ तु० क० १० १०७, २; १६; २। ८—९, ८६, ४४।
९—तै० ब्रा० ३, ७, १३, १।

में मधु को आवृत रखने वाली उक्त पपरी का नाम है। अतः यह वव्रि मधु का शरीर है[१]। उक्त विद्वानों के मतानुसार[२] ऋ० वे० १, ९, १ में 'पर्व' का अर्थ सोम-वृक्ष का तना है; परन्तु 'पर्व' शब्द ग्रीक Poros, लैटिन Porus तथा अँग्रेजी Pore का समकक्ष है और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'परु' शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ[३] है। अतः पर्व शब्द क अर्थ छिद्र या रोम-कूप अधिक उपयुक्त जँचता है और उक्त वैदिक मंत्र में 'विश्वेभिः सोमपर्वभिः' के साथ भी 'पर्व' का अर्थ 'तना' न होकर मधुकोष्ठों के 'छिद्र' अधिक ठीक है, क्योंकि सभी तनों के सहित अन्धस को पीना असंगत है—

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसा विश्वेभिः सोमपर्वभिः।

अंशु, वरुण तथा वन शब्दों को सोमलता की कोंपलों का नाम[४] मानना भी ठीक नहीं प्रतीत होता। अंशु का अर्थ पेय सोम (मधु) के साथ तो शहद की 'सुनहरी धार' तथा आध्यात्मिक और भौतिक सोम के प्रसंग में 'प्रकाश-किरण' अधिक ठीक बैठता है। अतः किरणों को चन्द्र, शुक्र (दीप्तिमान्) तथा अंशु प्रायः कहा जाता है[५]। इन्द्र द्वारा मुक्त की हुई नदियाँ भी चमकीले जलके कारण 'अंशुमत्याः'[६] कही गई हैं। वक्षण का अर्थ 'वक्ष' या 'पार्श्व' है और उनसे निकला हुआ सोम मधु छत्ते से निकला हुआ मधु[७] ही है। 'वन' शब्द का अनेक प्रकार से अर्थ किया गया है[८], परन्तु इस प्रसंग में इसका अर्थ 'प्रकाश किरण' या मधु का 'सुनहरा' तारही हो सकता है। अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही प्रतीत होता है कि पार्थिव सोम का कोई पौदा नहीं था और सम्भवतः यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रकाश-सोम के वृक्ष का प्रतीक होकर ही कोई पौदा आ गया, क्योंकि जैसा पहले देख चुके हैं यज्ञ, तो केवल आध्यात्मिक तथा भौतिक यज्ञ का प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि सोम के पौदे का कोई वर्णन वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता और ब्राह्मण ग्रन्थों में उसके स्थान पर अर्जुन (श्वेत) पौदों का विधान किया गया है[९], क्योंकि यही रंग प्रकाश का भी है।

१—वही। २—वैदिक इन्डेक्स। ३—३, ७, १३।
४—दे० वैदिक इन्डेक्स—मैकडानेल—कीथ। ५—९, ९६, ८; ५, ४३, ४।
६—८, ९६, १६; १३, ४। ७—८, १, १७।
८—Hophins J. HOS 17, 67, Max Miiller, Baet B. E. 32, 138 of Zimmer Alt L. 281,
९—पं० वि० ब्रा० ९, ५, ३; श० ब्रा० ,११, १, ५, १०।

पार्थिव सोम के पौदे का उल्लेख न होने पर सोम पीसने के पत्थरों की कल्पना करना ही व्यर्थ है। वास्तव में पेय सोम तो मधु है, जिसको उँगलियों तथा हाथों से मलकर निकालने का उल्लेख बार बार मिलता है[1]। अतः जो वस्तु हाथों से निकाली जा सकती थी, उसके लिये पत्थरों की आवश्यकता ही क्या थी, और वे पत्थर भी ऐसे जोर से क्यों चलाये जाते जो सहस्रों तथा सैंकड़ों व्यक्तियों के बोलने का सा शब्द करते। प्रायः विद्वान् लोग अद्रि, पर्वत तथा ग्रावा शब्दों का अर्थ सोम के प्रसंग में 'सोम पीसने वाले' पत्थर करते हैं। परन्तु यथार्थ बात यह है कि मधु (शहद) सोम पर्वत पर उत्पन्न होने के कारण प्रकाश सोम (आध्यात्मिक तथा भौतिक) को उत्पन्न करने वाले पर्वतों की भी कल्पना की गई। अतएव 'अद्रिभिः सुतः'[2] का अर्थ पर्वत से उत्पन्न मधु अथवा बादल आदि से उत्पन्न विद्युत्प्रकाश या दीप्तिवान् जल होगा। इसी प्रकार 'अविभिः अद्रिभिः सुतः' मधु[3] बकरियों तथा पर्वतों से उत्पन्न दूध-मधु-मिश्रण है, न कि 'बकरियों तथा पत्थरों से पिसा हुआ सोम का पौदा' ऋ० वे० १०, ९४ में 'ग्रावाणः' की स्तुति है, जिसकी परीक्षा विस्तार पूर्वक की जा चुकी है। ग्रावा प्रायः वेद में आध्यात्मिक या भौतिक प्रकाश सोम के प्रसंग में आते हैं और उनका अर्थ वही होता है, जो हम ऊपर कर चुके हैं। यदि सोम-सेवन के लिये किसी ग्रावा की आवश्यकता थी तो वह 'पृथुबुध्न उलूखल'[4] थी, जिसमें दो जघनों के आकार की 'अधिषवणी' है, जहाँ नीचे ऊपर खूब दबा दबाकर मधु चुआया जाता है और मथनी (मन्था) से रस्सियों को बाँधा जाता है। यह मथनी लकड़ी की मालूम पड़ती है जो 'वात' के समान चलती है। उलूखल में निचोड़ने के बाद मधु मथनी से मथा जाता था और कदाचित् बचे हुए सोम को मूसल से भी कूटा जाता हो, जिससे उसका सारा रस निकल जाय। ऐसा ही कुछ रहा होगा, जिससे भारत तथा ईरान दोनों जगहों पर कर्मकाण्ड में उलूखल तथा मूसल को स्थान मिल गया।

परन्तु फिर भी यह कहना ठीक नहीं है कि ऋग्वेद में सोम के पौदे को पीसने का उल्लेख मिलता है। जहाँ एक स्थल पर ऐसा उल्लेख बतलाया जाता है, उसके प्रसंग में; 'आध्यात्मिक तथा भौतिक प्रकाश' सोम का वृक्ष ही स्पष्ट प्रतीत होता है:—

१—९, ७, ९, ४; ८६, २६; ८६, १४; ८, ४, १५, ८; १, ७; ६, ५

२—९, ११, ५; २४, ५; २६, ५; ३०, ५; ३२, २; ३८, २; ३१, ६; ५०, ३; ६८, ९; ७१, ३; ८६, २३; ७९, ४।

३—२, ३६, १।

४—ऋ० वे० १, २८ तु० क० हिलेब्रां, वै० मै० १, २१९-२२२।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः ।
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथोनक्षत्राणांमेषामुपस्थे सोम आहितः ।
सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम् ।।
सोमं य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ।।
यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत् आप्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ।।

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पेय सोम शहद था और आधिभौतिक सोम की कल्पना इसी के आधार पर की गई थी । आधिभौतिक सोमकन भूमि-तत्व जल है । जिसको ऊपर कृष्ण सोम कहा गया है, उसका द्यु-तत्व प्रकाश है तथा रोचना-उसका सूक्ष्म तमरूप है ।

(च) इन्द्र—हम देख चुके हैं कि पिण्डाण्ड में इन्द्र के अन्तर्गत सारी कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों की देव-शक्तियाँ आ जाती हैं । उसके बिना ये सारे देवता व्यर्थ हैं । इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी इन्द्र के अन्तर्गत अग्नि तथा सोम दोनों आ जाते हैं । अग्नि अपने दाहकत्व गुण द्वारा पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों को उष्णता और पाचकता देकर क्रिया-शक्ति प्रदान करता है । सोम अपने प्रकाशत्व गुण द्वारा पिण्डाण्ड में 'मनोमय' को संचारीभाव, स्थायी भाव आदि संवेद तथा संवेग देकर तथा 'अन्नमय' को शरीरव्यापी 'शुक्र' (वीर्य) का प्रकाश देकर 'इच्छा-शक्ति जुटाता है । उसी तरह वह ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि के 'स्वः' रूपी मनोमय को उज्ज्वल प्रकाश देता है और स्थूल पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को वही दिव्य प्रकाश जल में कृष्ण बनाकर देता है[1] । अतः जिस प्रकार पिण्डाण्ड में कर्मेन्द्रियों की इन्द्र-शक्ति के अन्तर्गत 'अग्नि' तथा ज्ञानेन्द्रियों की इन्द्रशक्ति के अन्तर्गत संवेदात्मक 'सोम' आ जाता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के इन्द्र में अग्नि की उष्णता तथा दाहकता द्वारा प्राप्त विश्व की सारी क्रिया-शक्ति और सोम के प्रकाशत्व द्वारा सम्पादित सूर्य आदि का उज्ज्वल प्रकाश तथा उसका जल रूप में कृष्णीकृत सोम दोनों ही आ जाते हैं । अतः वैश्वानर अग्नि इन्द्र के अश्वों में से एक है और इन्द्र के भीतर सोम विद्यमान बताया गया है (१०, ४८, १०) इन्द्र ही सूर्य,

---

१—दे० ऊपर 'सोम वृक्ष' के अन्तर्गत अरुण वृक्ष ।

मनु[1] तथा सोम रूप धारण करता हुआ (४, २६, १; १०, ८९, २) कहा गया है। इन्द्र की सूर्य-रूप में पूजा की जा सकती है (४, ३, ५-६), क्योंकि इन्द्र का 'अनीक' (चेहरा) यथार्थ में सूर्य का ही है (१०, ४८, ३) और इन्द्र स्वयं सूर्य ही है (श० ब्रा० १, ६, ४, १८ तै० सं० ४, १२) तथा सूर्य के तीव्रगामी अश्वों के साथ विश्व भर में पर्यटन (१०, १९, ७) करता है। अतः इन्द्र सुनहरे रंग का है (१, ७, २; ८, ५५, ३; ७, ३४, ४) और वह अत्यन्त सुन्दर रूप सूर्य की प्रभा धारण कर लेता है (१०, ११२, ३) तथा विभिन्न रूप अपनी इच्छानुसार (३, ४८, ४, ५३, ८, ६, ४७, १८) धारण कर लेता है।

सारा विश्व अग्नि तथा सोम से ही बना हुआ है अतः उनके संयुक्त रूप इन्द्र को भी सर्वव्यापक, सर्वमय तथा सर्वोच्च कहा जाता है। वह इतना बड़ा है कि को भी सर्वव्यापक, सर्वमय तथा सर्वोच्च कहा जाता है। वह इतना बड़ा है कि दोनों बृहत् लोक उसकी मुट्ठी में आ सकते हैं (३, ३०, ५) और वह आकाश अन्तरिक्ष तथा पृथिवी से भी बड़ा (३, ४६, ३) है। द्यावापृथिवी उसके आधे के बराबर भी नहीं (४, ३०, १; १०, ११९, ७), वे उसके कटिबन्ध के लिये भी पर्याप्त नहीं हैं (१, १७३, ६), पृथिवी से तो वह दसियों गुना बड़ा (१, ५२, ११) है। उसकी समता सहस्रों सूर्य तथा दोनों लोक भी नहीं कर सकते (८, ५९, ५); वह विश्व में अपनी माया के द्वारा प्रत्येक वस्तु में समाया हुआ है और वह सब का प्रेरक है[1]।

इन्द्र का सोम के साथ उक्त सम्बन्ध होने से, सोम के अन्तर्गत आने वाले प्रकाश-तत्त्व तथा जल-तत्त्व का भी इन्द्र के साथ घनिष्ठ तात्विक सम्बन्ध बतलाया जाता है। वह प्रकाश तथा 'आप' दोनों को प्राप्त करने वाला है (३, ३४, ८); वृत्र-वध करके वह 'आपः' को मुक्त करता है तथा आकाश, सूर्य और उषा को (१, ३२, ४; ६, ३०, ५) उत्पन्न करता है। वह अन्धकार का उषा तथा सूर्य द्वारा भेदन (१, ६१, ५) करता है और उषा तथा 'आपः' को एक साथ सृजन करता है (१, ३२, १; २, ४, ६, ३०, ५; १०, १३८, १—२)। जब उसने वृत्रका सुनहरे वज्र द्वारा वध किया, तो उसने 'आपः' को छुटकारा दिलाया और सूर्य को आकाश में स्थापित किया (१, १५१, ४, ५२, ८)

इन्द्र अपने भूमि-तत्त्व में वायु-रूप में रहता है इसीलिये इन्द्र तथा वायु इस

१—दे० 'आदित्य और मनु-यज्ञ'।

२—इन्द्रः मायया पुरुरूप ईयते रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव।

दृष्टि से एक समझे[1] जाते हैं। सोम का भूमि-तत्त्व 'आपः' अग्नितत्त्व से मिलने पर 'वायव्य' रूप ही हो जाता है। अतः अग्नि और सोम दोनों का अपने में समावेश कर लेने वाला इन्द्र निश्चय ही वात या वायु कहा जायेगा। ट्यूटानिक देवता वोदेन (Woden) तथा नार्वेजियन ओदेन (Oden) भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वायु या वात का ही रूपान्तर है और प्रत्येक बात में इन्द्र से मिलता है। पिण्डाण्ड में वायु प्राण बनकर रहता है और हमारे जीवन का कारण है। इसलिये उससे प्रार्थना की जाती है कि वह आरोग्यप्रद होकर हमारे हृद्देश में बहे और अपनी अमृत-निधि से हमें दीर्घ आयु तथा जीवन प्रदान करें:—

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु नोहृदे प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥१॥
उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। सनो जीवातवे कृधि ॥२॥
यददो वात मे गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे ॥३॥

(ऋ० वे० १०, १८६)

ब्रह्माण्ड में इसका गगनचुम्बी रथ घोर शब्द करता हुआ, अरुणिमा उत्पन्न करता हुआ, पृथिवी पर धूल उठाता हुआ चलता है। उसके पीछे पीछे वात के अनेक झकोरे दौड़ते हैं, जिनसे संयुक्त होकर एक ही रथ पर, इस विश्व का राजा[2] (इन्द्र) अन्तरिक्ष मार्ग से चलता हुआ एक दिन भी नहीं टलता, वह सारे देवों की आत्मा है और स्वेच्छानुसार (यथावश) घूमता है; उसका केवल शब्द सुनाई पड़ता है, रूप नहीं दिखाई देता :—

वातस्य हिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग्यात्यरुणानिकृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥१॥
सं प्रेरतेअनुवातस्य विष्ठा एनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः सयुक् सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा ॥२॥
अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न निविशते कतमच्चनाह।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्वस्विज्जातः कुत आबभूव ॥३॥
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥४॥

परन्तु यह तो इन्द्र वायु का स्थूल रूप (भूमितत्त्व) है, जिसका वेद में 'वात' नाम दिया गया है और जो नार्वे में वोदेन कहलाता है। इन्द्र-वायु का सूक्ष्म रूप ही यथार्थ में 'वायु' कहा जाता है। वातरूप में वह सोम के भूमितत्त्व

१—नि० ७, २, ऊ० उ०। २—तु० क० ऋ० वे० ४, ४६, २; ४८, २।

'आपः' से सम्बन्ध रखता है और इसीलिये 'अपां सखा'[1] कहा जाता है। वायु-रूप में वह सोम के द्यु-तत्त्व प्रकाश से सम्बन्ध रखता है[2]; अतः 'पुरधि' को जगाता है, आकाश तथा पृथिवी को प्रकाशित करता है और उषाओं को चमकाता है, जो अद्‌भुत वस्त्रों का वितान नवीन रश्मियों में फैला देती हैं। वास्तव में वायु-वात या इन्द्र-वायु एक ही देवता है जो आयुओं में यही साधारण (आप्य सोम[3]) भाग पाता है, परन्तु देवों में उस सोम (सूर्यश्वित्[4] सोम) का भाग ग्रहण करता है[5], जो 'सरश्मि' तथा ऋत्विय है और सूर्य में स्थित है[6]। देवों में पाया जाने वाला तथा सूर्यश्वित् सोम ही वास्तविक तथा शुद्ध सोम है। इसी शुचि सोम का पान करने के कारण इन्द्र-वायु 'शुचिपा'[7] कहलाता है। ऊपर 'मनु-यज्ञ' के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि अदिति की सलिल अवस्था में प्रगूढ़ सूर्य जब व्यक्त होता है, तो उसी से सारे आदित्य या देव उत्पन्न होते हैं; अतः सूर्य से उत्पन्न नानारूपात्मक प्रकाश-सोम को तो सारे देवता पीते हैं; परन्तु सोम का सर्वप्रथम रूप तो वही 'रेतस्' है, जिसको 'सूर्यश्वित्' (सूर्य में शून होने वाला[8]) कहा गया है। इन्द्र-वायु का 'सरश्मि ऋत्विय भाग' सूर्य में बतलाया गया है और इसीलिये वह सोम का 'पूर्वपा' या प्रथम पीने वाला भी कहा गया है[9] क्योंकि सूर्य ही 'सूर्यश्वित' का सर्वप्रथम उपभोग कर सकता है।

अतः जिस प्रकार प्रथम यज्ञकर्ता मनु सूर्य है[10], उसी प्रकार 'पूर्वपा' 'इन्द्रवायु' भी सूर्य ही हैं। फलतः वायु को मनु भी कहा गया है, जिसके लिये पहले अनवद्य देवों ने सूर्य से उषा को उत्पन्न किया था[11]। जैसा कि आदित्यों की उत्पत्ति के प्रसंग में कहा जा चुका है, सूर्य के दो रूप हैं[12] पहला प्रगूढ़, अव्याकृत, सलिल रूप, जिसमें सारे देवता 'सुसंरब्ध' स्थिति में हैं और विज्ञानमय[13] की उन्मनी

१—दे० १०, १६८, ३ ऊ० उ०

२—ऋ० वे० १, १३४ अधिक के लिये दे० 'अश्व अश्विन'

३—दे० 'सोमवृक्ष' में 'अरुणवृक्ष'

४—वही तु० क० श्वि गतिवृद्धयो पा० धा० पा० १, १०५९

५—१, १३५, २। ६—वही, अनु० ३। ७—७, ९१, ४।

८—११, १३५, २।

९—तु० क० १, १, १३४; १; ६, १३५, १; १, ९२, १, ४, ४६, १ आदि।

१०—दे० ऊपर मनु-यज्ञ। ११—७, ९१, १ १२—दे० १०, ७२, ६-८।

१३—वही।

शक्ति के समकक्ष है ; दूसरा व्यक्त, व्याकृत सूर्य है जिससे मार्तण्ड तथा उसकी सप्त-रश्मि रूपी आदित्यों के द्वारा सारे देवता उत्पन्न हो जाते हैं और जो 'विज्ञानमय' की समनी-शक्ति के समकक्ष है। इनमें से दूसरे सूर्य से उत्पन्न होने वाला 'मार्तण्ड' सूर्य ही प्रथम यज्ञ-कर्ता मनु तथा सोमपा इन्द्रवायु है, यही इन्द्र-वायु का 'द्यु' रूप है, जबकि स्वयं व्याकृत सूर्य (दूसरा रूप) 'मनुर्हितं रेतस' या सोम का 'सूर्यश्वित् रेतस' तथा इन्द्र या वामदेव की गर्भावस्था है, जो सप्त-रश्मि सहित मार्तण्ड सूर्य के रूप में होकर विविध देवों या आदित्यों को जन्म देता है[1], मनु होकर यज्ञ द्वारा देवों, ऋषियों, पितरों आदि की सृष्टि करता है[2], इन्द्र-जन्म ग्रहण करके वृत्र-वध द्वारा प्रकाश तथा 'आपः' को मुक्त करता है अथवा वायु होकर अनेक इन्द्रमादन करने वाले वायु देवों (वायव, इन्द्र-मादनास, आदेवासः) को पैदा करता है, जो सूर्य-किरणों (सूरिभिः) द्वारा वृत्रों का वध करते हैं। यही इन्द्रवायु के पुत्र (वायवः) सोमपक्ष में 'मरुत' हैं, जो वायुओं द्वारा वाहित रथों पर सवार होने वाले (३, ५४, १३; २,३४,४; ५ ५८,७) इन्द्र का वज्र धारण करने वाले (७, ७, ३२) तथा इन्द्र के साथ वृत्र-वध करके सोम को दोनों रूपों (प्रकाश तथा आपः' में उत्पन्न करने वाले हैं[3]। इसलिये वायु को 'मरुत्गण' को उत्पन्न करने वाला कहा गया है (१, १३४, ४)। अग्नि पक्ष में यही अंगिरस हैं, जो मरुत की भाँति ही इन्द्र के साथ वृत्र-वध करते हैं तथा उससे उत्पन्न प्रकाश तथा 'आपः' को मुक्त करते हैं। अतः वायवों (अंगि-रस तथा मरुत्) के गण के सहित व्याकृत तथा सरश्मि मार्तण्ड रूपी इन्द्र ही वायु अथवा इन्द्रवायु है, क्योंकि यही नानात्वमुखी प्रगति की अवस्था है, जो वा धातु से निष्पन्न 'वायु' शब्द से व्यक्त होती है। परन्तु इन्द्र की गर्भावस्था अपेक्षाकृत स्थिरता की अवस्था है, जिसमें देवता लोग 'सुसंरब्ध' कहे गये हैं, जबकि उक्त नानाकृत अवस्था में वे नाचते हुए से बतलाये गये हैं। अतः गर्भावस्था का इन्द्र केवल इन्द्र कहलाता है।

१—वही। २—१०, १३०, तु० क० 'मनु-यज्ञ'।

३—३, ४७, ३-४; १, १००, ८; ७, ४; १, ६४, ५; ६; ५, ५९, ५; १, ३८, ९ आदि तु० क० Macdonell Vedic mythology 77-81

इदम् और अहम्

१—त्रिदेव और उनके शत्रु-मित्र

(क) श्येन, सोम तथा इन्द्र—ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो चुका है कि अग्नि, सोम तथा इन्द्र का उद्‌गम वही है, जो सब आदित्यों या देवों का है; और वह एक ही है, जिसे इन्द्र, वामदेव या देवों की गर्भावस्था कहा गया है। यही कारण है कि अग्नि, सोम तथा इन्द्र की उत्पत्ति का वर्णन प्रायः एक साथ वेदों में आता है। इस प्रकार का सब से सुन्दर वर्णन ऋ० वे० ४,२७ में मिलता है, जहाँ इन्द्रावत बृहत् से श्येन द्वारा सोम लाने का चित्र दिया गया है।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥१॥
न घा स मामप जोषं जभाराऽभीमासःत्वक्षसा वीर्येण।
ईर्मा पुरंधिरजहादरातीरुत वातां अतरच्छूशुवानः ॥२॥
अवयच्छ्येनो अस्वनीदधद्योर्वियद्यदि वात ऊहुः पुरंधिम।
सृजद् यदस्मा अवह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥३॥
ऋजिप्य ईमिन्द्रावतो न भुज्युं श्येनो जभार बृहतो अधिष्णोः।
अन्तः पतत्पतत्र्यस्य पर्णमधयामनि प्रसितस्य तद् वेः ॥४॥
अध श्वेतं कलशं गोभिरक्तमापिप्यानं मघवाशुक्रमन्धः।
अध्वर्युभिः प्रयतं मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रतिधत पिबध्यै ॥५॥

१—Rgveda tr II 512 H Commentory V 457 H 468.
२—ZDMG 353 H.

इस सूक्त में 'अहं' रूप में बोलनेवाले के विषय में अनेक मत हैं। लुडविग तथा रोथ सूक्त के वक्ता को सोम मानते हैं और 'निरदीयम्' के स्थान पर 'निरदीयत्' पाठ-परिवर्तन करते हैं। हिलेब्रां[1] इस परिवर्तन से सहमत है, परन्तु एग्लिंग[2] और रेगनान्द[3] इसकी कड़ी आलोचना करते हैं, यद्यपि तीनों ही उक्त सूक्त में वक्ता के विषय में रोथ से सहमत हैं। ए कून[4] के अनुसार श्येन इन्द्र ही है, ग्रासमैन[5] वक्ता को श्येन तो मानता है; परन्तु वह लुडविग तथा रोथ से इस बात में सहमत है कि यह श्येन सोम ही है। पिशेल[6] की सम्मति में यह सारा सूक्त (४,२७) इन्द्र, श्येन तथा सोम का संवाद है और ४, २७,१ में बोलने वाला स्वयं श्येन ही है, न कि कोई दूसरा। परन्तु ऐतरेय आरण्यक[7] तथा ऐतरेय उपनिषद्[8] तथा बृहदारण्यक उपनिषद्[9] के अनुसार ४, २६ तथा ४, २७ में बोलने वाला एक ही है और वह 'वामदेव' है, जो ब्रह्म या आत्मा का ही कारण-रूप है। सर्वानुक्रमणी का इन दोनों सूक्तों के विषय में मत है कि **'अहं मनुः सप्ताधाभिस्तिसृभिरिंद्रमिवात्मानमृषिस्तुष्टावेंद्रो वात्मानं परा नवाष्टौ वा श्येनास्तुतिः।'**

इस सारे मतभेद का कारण इन्द्र, अग्नि और सोम का उक्त सम्बन्ध न समझना ही है। इस सम्बन्ध को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तीनों की गर्भावस्था वास्तव में एक ही है, जिसको 'विज्ञानमय' की 'सध्रीची' या गर्भावस्था अथवा ब्रह्माण्ड में सलिलप्रगूढ़ सूर्य का व्यक्त रूप कहा गया है, जो मार्तण्ड सूर्य या मनु तथा देवों और आदित्यों को जन्म देता है अथवा इन्द्रवायु तथा तदुद्भूत वायवों या मरुतों को उत्पन्न करता है अथवा उसी बात को यों कह सकते हैं कि यह वही 'सूर्य' है, जिससे 'अनवद्य' देवलोग मनु-वायु के लिये उषा की सृष्टि करते हैं। उक्त गर्भ ही, जैसा कि पिंडाण्ड प्रकरण में कह चुके हैं, नानात्वमयी सृष्टि का वमन (सृजन) करने से 'वामदेव' कहलाता है। सोम पक्ष

१—Ved. Myth. (erster) P. 227 th.
२—sac. b. east XXVI P. 20 th.
३—Rognand Le Rigveda et les origone de la mythologies. Indo europeans P. 298 th.
४—Die Heaub des Feurs Gotter I, 146.
५—Rig Ir I, 1 4 th.   ६—Vedic-studien
७—ऐ०. आ०   ८—ऐ० उ०   ९—बृ० उ०

में यही गर्भ अनवद्य या अकुत्स अर्जुन है, जो मायाच्छन्न होकर कुत्स आर्जुनेय रूप में जन्म पाता है, कक्षीवान् (छिपा हुआ)[1] ऋषि हो जाता है, और 'मनो-मय' में काममय होने के कारण उशना (कामना करने वाला) कवि कहलाता है। अग्निपक्ष[2] में वही श्येन या वायु-मनु कहलाता है, जो वायुओं या मरुतों से सम्बन्ध रखने वाला है, इसीलिए ऋ० वे० ४, २६ में कहा गया है कि:—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाऽहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्सं आर्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यतामा ॥१॥
अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशाना ममदेवासो अनुकेतमायन् ॥२॥
अहं पुरोमन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य ।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम् ॥३॥
प्रसुष विभ्योमरुतो विरस्तु प्रश्येनः श्येनेभ्य आशुपत्वा ।
अचक्रया यत् स्वधया सुपर्णो हव्यं भरन्मनवे देवजुष्टम् ॥४॥
भरद् यदि विरतो वेविजानः पथोरुणा मनोजवा असर्जि ।
तूयं ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र ॥५॥
ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुं परावत शकुनो मन्द्रं मदम् ।
सोमं भरद्दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय ॥६॥
आदाय श्येनो अभरत सोमं सहस्रं सवां अयुतं च साकम् ।
अत्रा पुरंधिरजहादरातीर्मदे सोमस्य मूरा अमूररः ॥७॥

(ख) गायत्री, श्येन तथा सोम—अतः ऋ वे० ४, २६ तथा ४, २७ 'इन्द्रावत् बृहत्' या दिव से सोम को लाने वाला श्येन इन्द्र के साथ ही उत्पन्न होने वाला अग्नि है, इसीलिए कहीं-कहीं इन्द्र के लिए जन्मते ही श्येन द्वारा सोम ला दिया जाता है[3]। इस बात की पुष्टि करने के लिए श्येन-सोम सम्बन्धी सारी

१—कक्ष—छिपने का स्थान, गोपनीय स्थल

२—क्योंकि अग्नि ही क्रिया-शक्ति का देवता है (देखो अग्नि ऊपर), इसलिए प्रायः 'श्येन' कहलाता है। (ऋ० वे० ३, १, ५८, ५, २, २, ४, ६, ३, ७, ४, ६, १०, ६, ४, ७, ५, ४, ४, ३५, ८, १, ६५, ९; १, १६४, ५२ तै० ब्रा० ३, १, ५, १०, १२, १३ तु० क०
Bloomfield Fagestus on Roth 152.

३—ऋ० वे० ४, १८, तु० क० का० सं० ३४, ३ ।

कथाओं पर विचार कर लेना आवश्यक है। अतः नीचे ऐसी सभी कथाओं का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है:—

१—शतपथ ब्राह्मण—गायत्री सोम लेने गई। जब गायत्री सोम की ओर उड़ी, तब एक 'अपाद अस्ता' ने उस पर निशाना लगाया और जैसे ही वह उसको लिए जा रही थी, उसने (अस्ता ने) उसका (गायत्री श्येन का) एक पर्ण (पंख) काट दिया, जो नीचे गिरकर (पर्ण) पलाश वृक्ष हो गया। यह पंख या तो गायत्री का था या सोम का। यही कथा तै० सं० ३, ५, १, तै० ब्रा० १, १, ३, १०; १, ६, ४, ७; ५, ३, २, ११ तथा अ० वे० ६, ८० में भी आती है, जहाँ यह निश्चयपूर्वक कहा गया है कि सोम का पंख कटकर गिर पड़ा, जो पर्ण-वृक्ष बन गया।

२—ऐतरेय ब्राह्मण :—ऋषियों तथा देवों की प्रेरणा से छन्दों ने सुवर्णों का रूप धारण किया और सोम राजा को लेने के लिए दिवलोक को उड़ी। पहले जगती गई ; परन्तु वह आधी दूर जाकर थक गई। तब त्रिष्टुप गई, परन्तु आधी दूर से कुछ आगे जाकर वह भी थक गई। तब गायत्री गई और सफल होकर आई। उड़ते हुए उसने सोम-रक्षकों को चौंका दिया। अपने चक्षु-चरण से उसने सोम पकड़ लिया। . . . एक रक्षक कृशानु ने उसके तक कर तीर मारा और उसके बाएं पञ्जे का एक नख काट लिया। जो उसने दाहिने पञ्जे में दबा रक्खा था, वह प्रातः सवन हो गया ; जो उसने बाएँ पञ्जे से दबा रक्खा था वह मध्याह्न-सवन हो गया ; जो उसने (चोंच से) पकड़ रक्खा था वह तृतीय सायं) सवन हो गया।

३—तैत्तिरीय संहिता[१]—कद्रू तथा सुपर्णी में आत्मा के लिए युद्ध हुआ। कद्रू ने सुपर्णी को हरा दिया। कद्रू ने कहा—"यहाँ से तृतीय लोक में सोम है, उसको चुरा लाओ और उसके बदले में अपनी मुक्ति करालो। चतुर्दशपदा जगती उड़कर गई। वह सोम को बिना पाये ही लौट आई, और उसके दो पद भी कम हो गए। त्रयोदशपदा त्रिष्टुप उड़कर गई, वह भी उसके बिना ही लौट आई और अपने दो पद भी खो बैठी। तब चतुष्पदा गायत्री उड़कर गई। यह सोम तथा चारों पदों को ले आई। वह अष्टपदा गायत्री हो गई।"

४—शतपथ ब्राह्मण[२]—प्रारम्भ में छन्द के चार पद थे। जगती सोम

१—६, १, ६।

२—४, ३, २, ७।

लाने के लिए उड़कर गई और अपने तीन पदों को छोड़कर खाली हाथ लौट आई। त्रिष्टुप भी सोम के लिए उड़कर गई और वह भी अपना एक पद छोड़ कर लौट आई। गायत्री भी सोम को लाने के लिए गई। वह अपने साथ सोम तथा चारों पदों को लेकर लौटी।

५—मैत्रायणी संहिता[१]—कद्रू तथा सुपर्णी की कथा कुछ परिवर्तन के साथ भी पाई जाती है। कद्रू यही (इयं) है, सुपर्णी वाक् है। गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती छन्द सुपर्णी की सन्तान है। कद्रू ने सुपर्णी पर विजय प्राप्त करली; उसकी आत्मा को जीत लिया। उसने सुपर्णी से कहा 'सोम को लाओ; उससे अपना छुटकारा कराओ। उसने यह कहकर छन्दों को भेजा, वहाँ से सोम को ले आओ, उससे अपना छुटकारा कराओ। "तब जगती ऊपर को उड़ गई, वह पशु तथा दीक्षा लेकर लौट आई। त्रिष्टुप उड़कर गई, वह दक्षिणा तथा तप लेकर वापस आ गई। तब गायत्री उड़कर गई और वह सोम को ले आई।"

६—काठक संहिता—कद्रू और सुपर्णी आत्मा रूप पर स्पर्धा करने लगीं। कद्रू ने सुपर्णी आत्मारूप को जीत लिया। यही (इयं वै) कद्रू है द्यौ सुपर्णी और छन्द सौपर्ण। कद्रू ने कहा यहाँ से तृतीय 'दिव' में सोम है, उसको लाओ; उससे अपना निष्क्रय कराओ। सुपर्णी ने छन्दों से कहा "इसीलिए माता-पिता पुत्रों को पालते-पोसते हैं। ऐसों को ही मैंने पोसा है। इससे मेरा निष्क्रय कराओ।" चतुर्दशाक्षरा जगती उड़ी और जाकर लौट आई। उसके दो अक्षर कम हो गये; वह पशु तथा दीक्षा लेकर आई। ... त्रिष्टुप त्रयोदशाक्षरा होकर उड़ी; वह वहाँ होकर लौट आई। उसके दो अक्षर जाते रहे। वह दक्षिणा तथा तप लेकर आ गई। चतुरक्षरा गायत्री अजा को कान पकड़ ले गई। अजा के द्वारा उसने उसको (सोम को) 'अजाभ्यरुण' किया—वह चारों अक्षरों तथा सोम को लेकर लौट आई। वह अष्टाक्षरा हो गई। ... इसी से गायत्री यज्ञ-मुख है, इसी से तेजस्वियों में श्रेष्ठ है। वह पैरों से दो सवन लाई; मुख से तृतीय को।"

इसी कथा को आधार मानकर सुपर्णाख्यान[२], महाभारत[३], रामायण[४] और पुराणों में विस्तृत आख्यानों की सृष्टि हुई है।

१—३, ७, ३।

२—२३, १० तु० क० Weber Ind Stud 8, 31,

३—Edited by E. Garbe in Ind Stut XIV. 1–31.

२—1.10, 73 ff. 3.162 ff.

७—शतपथ ब्राह्मण—श० ब्रा० ६, २, २, ४ ने उक्त कथा को एक नया रंग दिया है। उसके अनुसार, सोम को स्वर्ग से नीचे लाने की इच्छा करते हुए देवों ने कद्रू तथा सुपर्णी नाम की दो मायायें पैदा कीं। इनमें से दूसरी वाक् है। इन दोनों ने परस्पर स्पर्द्धा करते हुए, एक दूसरे से का, "हममें से जो भी अधिक दूर तक देखेगा (परापश्यत्), वही हममें से दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेगा।" कद्रू ने कहा—"जितनी दूर तुम देख सको देखो।" सुपर्णी ने कहा, "मैं एक समुद्र देख रही हूँ, उसके उस पार एक श्वेत अश्व एक बल्ले से लगा खड़ा है। मै उसे देखती हूँ। क्या तुम उस अश्व को देख रही हो!" कद्रू इसके अतिरिक्त कुछ और भी देख रही थी; अतः उसने उत्तर दिया, "उसकी पूंछ लटक रही है और वायु उसको हिला रही है। मैं उसे देखती हूँ।" कद्रू सुपर्णी को यह देखने के लिये भेजती है कि दोनों में से कौन ठीक है सुपर्णी उड़कर गई और यह समाचार लाई कि कद्रू की विजय हुई और फलतः उसका शरीर कद्रू का हो गया। कद्रू उससे कहती है कि—सोम को स्वर्ग से लाकर अपना निष्क्रय करवालो। अतः वह छन्दों को उत्पन्न करती है, जिनमें से गायत्री ही जाकर सोम लाती है।

८—काठक संहिता—का० सं० २४, १ में कद्रू तथा सुपर्णी की कथा कुछ भिन्नरूप से मिलती है। जब कि उपर्युक्त कथाओं में वाक् सुपर्णी अपनी सन्तान गायत्री द्वारा सोम मंगवाती है। यहाँ वाक ही स्वयं गायत्री है, जो सोम लाती है। 'वाक् ही सोमक्रयणी है। छन्द ही वास्तव में सोम को स्वर्ग से लाये—अर्थात् गायत्री श्येन होकर। गन्धर्व उसको फिर चुराले गये। देवों ने उसको फिर चाहा। उन्होंने ((गंधर्वों) ने कहा,—"अब हम उनको फिर न देंगे। देवों ने कहा "हम उसको गाय द्वारा खरीदते हैं। उन्होंने (गन्धर्वों ने) सोचा—"गाय से क्रीत होने पर तो यज्ञ के बदले बिक्री करना होगा"। देवों ने कहा—"गन्धर्व स्त्री- लोलुप है।" अतः उन्होंने वाक् को स्त्री बनाकर एक माया पैदा की। तब गन्धर्वों ने सोचा—"यदि हम वाक् के बदले बेचें तो प्रजा के बदले बेचना होगा।" जब स्त्री-रूप में वाक् सोमक्रयणी पहुंची, वे आपस में झगड़ने लगे, "हमारा सोम है, हमारी सोमक्रयणी है।" गन्धर्वों ने कहा—"अच्छा हम उसका आह्वान करगे।" गन्धर्वों ने 'ब्रह्म' कहा, देवों ने गाया। वह (स्त्री वाक्) गाते हुए देवों के पास चली गई। अतः स्त्री गाने वाले को चाहती है, 'ब्रह्म' कहने वाले को नहीं। वह ब्रह्म से द्रोह करती है।"

(८) उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त, ब्राह्मणों[1] में ऐसे और भी स्थल हैं, जहाँ सोम-वाहक श्येन रूप में गायत्री का वर्णन आता है ; परन्तु वहाँ कोई और बात कहानी में नहीं जुड़ती ।

(९) शतपथ ब्राह्मण ३, ९, ४, १० में गायत्री श्येन को अग्नि कहा है । "अग्नि ही गायत्री है. . . गायत्री श्येन होकर 'दिव' से सोम को लाई इसी से वह श्येन सोमभृत है ।"

इन श्येन कथाओं में निम्नलिखित प्रधान बातें हैं, जो श्येन-सोम के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाल सकती हैं, और जिनकी आलोचना यहाँ की जायगी :—

१—वाक् सुपर्णी की तीन सन्तानें जगती, त्रिष्टुप तथा गायत्री हैं जिनमें से केवल गायत्री ही सोम ला सकती है और दूसरी तो केवल पशु-दीक्षा या तप-दक्षिणा लेकर लौट आती है ।

२—कद्रू तथा सुपर्णी दो मायायें हैं, जो आपस में प्रतिस्पर्द्धा रखती हैं । सुपर्णी समुद्र तथा समुद्र के उस पार बल्ले से लगे हुए श्वेत अश्व को देख सकती है । कद्रू उस अश्व की लटकती हुई तथा वायु द्वारा हिलाई जाती हुई पूंछ को भी देख सकती है । परन्तु, सुपर्णी उड़ सकती है, कद्रू नहीं ; सुपर्णी वाक् 'द्यौ' है, कद्रू पृथिवी ।

३—सोम सुरक्षित है ; श्येन रक्षकों को क्षुब्ध करके चंचु-चरणों से पकड़ कर सोम को लाता है । जो तीनों सवनों का रूप धारण कर लेता है ।

४—अपाद अस्ता कृशानु श्येन पर एक तीर छोड़ता है, जिससे गायत्री-श्येन अथवा सोम का 'पर्ण' या नख कटकर गिर पड़ता है । इसी पर्ण से पर्ण (पलाश) वृक्ष हो जाता है ।

५—गायत्री स्वयं अग्नि है, जो श्येन होकर सोम लाती है, अथवा सोम-क्रयणी गाय या स्त्री रूप होकर सोम को लाती है ।

उपर्युक्त सुपर्णी तथा उसकी सन्तानों का वर्णन ऋ वे० १, १६४, १८; २५ में एक दूसरे रूपक द्वारा किया गया है, जिसमें 'मनोमय' पुरुष (देवं मनः)

१—श० ब्रा० १, ८, २, १०; ३, ४,१, १२; ९, ४, १०, १: ७, १, १, ११; २, ८ तै० सं० ३, ५, ७१ तै ब्रा० १, १, ३, १०; २, १, ६, ४; ७, ५, ३; २, १, १; पं० वि० ब्रा० ८, ४–१; ४, ९, ५, ४ आप० श्रौ० सू १, ६, ८ का० सं० ३४, ३ ।

के जन्म का उल्लेख करने के पश्चात् उससे विकसित सृष्टि का जिक्र है। इस सृष्टि के नानारूप पर-अवर, पराच-अर्वाच अथवा ब्रह्म-वाक् तत्त्वों से इस प्रकार मिलकर बने हैं कि पराच को अर्वाच और अर्वाच को पराच कहा जाता है। ये सब रूप इन्द्र तथा सोम ने बनाये हैं, जो रजः (अग्नि-तत्त्व या क्रियाशक्ति) के धुर से युक्त होने के समान प्रगतिशील है (वहन्ति)। यह सारी सृष्टि एक वृक्ष है, जिस एक ही वृक्ष (समान वृक्ष) पर दो संयुक्त तथा सखा, सुपर्ण आलिंगन-बद्ध हैं, इन दोनों में से एक तो वृक्ष के स्वादिष्ट 'पिप्पल' खाता है और दूसरा बिना खाये ही देखता रहता है, यह 'स्वादु' पिप्पल तो पहले (अग्रे) उसका है, जो विश्व भवन का स्वामी तथा गोपा है और जो धीरे-धीरे यहाँ (मनोमय-जनित सृष्टि में) आकर 'पाक' (पूर्ण विकास) को प्राप्त हुआ है ; यही वह वृक्ष है, जिससे सारे मधु-भक्षी सुपर्ण उत्पन्न होते हैं और जिसमें वे निविष्ट होते हैं और जहाँ सुपर्ण लोग निर्निमेष अमृत को भोगते हैं ; परन्तु जो 'पिता' को नहीं जानता, वह इसको नहीं खा पाता ('तन्नो नशद्यः पितरं न वेद); गायत्र में जो गायत्र अध्याहित है, त्रैष्टुभ से जो त्रैष्टुभ निर्मित हुआ तथा जगत में जो जगत पद अध्याहित है, उसको जो जानता है वही अमृतत्व का भोग करता है। गायत्र से अर्क (त्रैष्टुभ) साम, त्रैष्टुभ अर्क से वाक् साम तथा वाक से वाक; द्विपदा चतुष्पदा होकर अक्षर से सात वाणियों का निर्माण हुआ। जगत साम से दिव में सिंधु स्तब्ध हुआ, रथंभर में सूर्य देखा गया है तथा गायत्र की तीन समिधायें कही जाती हैं। इसी प्रकार (वह) अपनी महा महिमा द्वारा प्रकृण्ट रूप से प्रकाशित हुआ।" इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि 'मनोमय' उद्भूत प्राणमय तथा अन्नमय तक जितनी नाना सृष्टि है, वह सब इन्द्र, सोम तथा अग्नि द्वारा निर्मित हैं। और इन तीनों तत्त्वों से निमित सृष्टि-वृक्ष पर ब्रह्म तथा वाक् ही सुपर्ण तथा सुपर्णी है, जो संयुक्त रूप से इस पर विहार कर रहे हैं। परन्तु इस मनोमय का पिता वास्तव में विज्ञानमय है, जिसमें भी अग्नि, सोम तथा इन्द्र अथवा गायत्र, त्रैटुभ तथा जगत् पद थे, उसी के इन तीनों पदों से 'मनोमय' के भी गायत्र, त्रैष्टुभ तथा जगत पद का अस्तित्व है। मनोमय के इन तीनों पदों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—गायत्र से त्रैष्टुभ अर्क, त्रैष्टुभ अर्क से वाक् (जगत)। अतः वाक (जगत्) में अग्नि और सोम या गायत्र तथा त्रैष्टुभ दोनों तत्त्व विद्यमान हैं और यही वाक, गायत्र-त्रैष्टुभमयी वाक् (जगत्), अक्षर (ब्रह्म) के साथ-साथ एक से द्विपद तथा चतुष्पद होकर सात वाणियों के रूप में प्रकट हुई। अ० वे० ८, ९, १४ में भी गायत्री त्रिष्टुभ जगती आदि में

अग्नि-सोम के तत्त्वों की ही उपस्थिति बतलाई गई है[1] ; और अन्यत्र सारी सृष्टि अग्निसोमात्मक ही कही गई है। अतः सप्त वाणियों (पिण्डाण्ड में सप्त शीर्षण्य प्राण, ब्रह्माण्ड में सप्तरश्मि) या सारे विश्व में अग्नि, सोम तथा इन्द्र अथवा गायत्र, त्रिष्टुभ तथा जगती तत्त्व पाये जाते हैं। ये वास्तव में अग्निसोम गायत्रत्रैष्टुभ, नामक दो तत्त्वों के अन्तर्गत अथवा इन्द्र नामक एक तत्व के अन्तर्गत आ सकते हैं। इसीलिये उक्त १,१६४ के प्रारम्भ ही में सृष्टि के इन तीन तत्वों को तीन भाई कहा है और फिर इन तीनों में एक ही सप्तपुत्री विश्वपति की उपस्थिति देखी गई है । इसी को दूसरे प्रकार से व्यक्त करते हुए, सारे सृष्टि-चक्र को सारे भुवनों का अधिष्ठान-स्वरूप त्रिनाभि-चक्र अथवा सप्त नामधारी एक ही अश्व के द्वारा एक-चक्री रथ कहा गया है :—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्याऽत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ।।१।।
सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनाम ।
त्रिनाभि-चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधितस्थुः ।।२।।
इमं रथमधि ये सप्ततस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते यत्र गवांनिहिता सप्तनाम ।।३।।

हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रगतिमय होने से 'मनोमय' की सृष्टि के अन्तर्गत इन्द्र को वायु भी कहा जा सकता है ; अतः इन तानों तत्त्वों को अग्नि, सोम तथा वायु भी कहा जा सकता है। परन्तु, मनुष्य (मनु अर्थात् 'मनोमय' से उत्पन्न) सृष्टि के ये तीन व्यक्त और व्याकृत तत्त्व तो वाक् के तुरीय पद के अन्तर्गत हैं। इसके तीन पद और भी हैं, जो गुहा (विज्ञानमय गर्भावस्था) में छिपे हैं और जिनको केवल मनीषी ही जान सकते हैं :—

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिध्र्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ।
चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।

अतएव वाक् ही सुपर्णी है, जिसकी संतानें गायत्री, त्रिष्टुभ तथा जगती हैं। यही तीन तत्त्व अग्नि, सोम तथा इन्द्र-वायु हैं, जिनसे सारी मनोमय सृष्टि

१—अग्नीषो मावद धुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषय कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीं त्रिष्टुभं बृहदर्कीं स्वराभरेतीम् ।

निर्मित है। इन तीनों में से अग्नि-गायत्री ही क्रिया-शक्ति होने के कारण श्येन कही जा सकती है। और गायत्री से (अग्नि से) त्रैष्टुभ (सोम) तथा त्रैष्टुभ से जगत् की उत्पत्ति होने से गायत्री-अग्नि श्येन ही सोम लाने वाला कहा जा सकता है। 'मनोमय' सृष्टि के तीनों तत्त्वों की माँ सुपर्णी 'विज्ञानमय' की गायत्री है। यह वही गायत्री है जिसकी समिधायें वे तीनों तत्त्व हैं, जिनके द्वारा वह (ब्रह्म) अपनी महा महिमा को प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित करता है (**गायत्रस्य समिधस्तिस्र ाहुस्ततो मह्वा प्र-रिरिचं महित्व।**)। परन्तु 'विज्ञानमय' के अन्य दो तत्त्व निष्क्रिय से हैं। जगत् में 'सिन्धु' स्तब्ध था और रथंतर (त्रैष्टुभ[1]) में सूर्य दिखाई पड़ा। अतः 'विज्ञानमय' के तीनों तत्त्वों को ऋ० वे० १०, ७२ में वर्णित क्रमशः सलिल-समुद्र में प्रगूढ़ सूर्य, व्यक्त सूर्य तथा सप्त आदित्यों का आदि और अन्त्य स्वरूप मार्ताण्ड सूर्य कहा जा सकता है। इनमें मध्यवर्ती को आवांतर दशा मानकर 'विज्ञानमय' को पराची और सध्रीची अथवा उन्मनी तथा समनी शक्तियों में भी विभक्त किया गया है। इनमें पहली स्तब्ध या निष्क्रिय है और दूसरी क्षुब्ध या सक्रिय। पहली में जगत् या इन्द्र-तत्त्व की प्रधानता है और दूसरी में गायत्र या अग्नि तत्त्व की। अतः पहली कद्रू स्थिर पृथिवी तत्त्व है, दूसरी सुपर्णी नाना रूप से प्रकाश करने वाला द्यौ तत्त्व है। पहली में सृष्टि का गर्भाधान मात्र है, अतः इसमें 'रेतस्' अश्वित (अविकसित) होने से वह अश्व है। दूसरी 'गर्भ' है, जिसमें 'रेतस' पूर्ण रूप से श्वित विकसित) हो चुका है। यह माता सुपर्णी में श्वित होने के कारण 'मातरिश्वा' कहलाता है। गायत्री अग्नि होने के कारण उसे ठीक ही अग्नि लाने वाला कहा जा सकता[2] है। कद्रू तो विश्व के साथ ही है और स्वयं अत्यन्त स्थिर है ; अतः आवान्तर दशा की ओर उसकी पूँछ में होने वाली गति को जान सकती है, परन्तु मनोमय की ओर तीव्रगति से सक्रिय सुपर्णी को अश्व शांत ही दिखाई पड़ता है। यह स्थिर 'अश्व' ही अपाद अस्ता कृशानु है ; जिसका उल्लेख ऋग्वे० ४,२६ तथा ४,२७ और अन्यत्र श्येन-कथाओं में बराबर मिलता है। इसी स्थिर अवस्था से वाक् (शक्ति) की लहर निरंतर चलती हुई सक्रिय अवस्था में होती हुई मनोमय' सृष्टि में

१—त्रैष्टुभ—सोम और मनोमय सृष्टि वास्तव में सोम-सृष्टि है जिसको वाह्यच-रथ कहा जा सकता है तु० क० , १६४, १-२ उ० उ०) अतः 'विज्ञान-मय' का त्रैष्टुभ या सोम 'रथंतर' कहला सकता है।

२—ऋ० वे० १, ९३।

पहुँचती है। अतः अश्व की हिलती हुई पूंछ ही के समान यह गायत्री-श्येन पर छोड़ा हुआ तीर है। श्येन अथवा सोम का नख या पर्ण कट कर जो लाल पलाश (वृक्ष) हो जाता है, वह उपर्युक्त सोम का अरुण-वृक्ष ही है, जिसके अन्तर्गत 'मनोमय' से लेकर अन्नमय तक सारी सृष्टि आ जाती है।

(ग) शम्बर, वृत्र, शुष्ण [1] तथा सर्पराज्ञी—परन्तु, सोम का वास्तविक स्थान तो स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम सुरक्षित है। उसके चारों ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहरा रहता है। यही वृत्र है, जो इसको घेरे हुए हैं। सोम के दोनों तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इसी को मारकर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है; अतः इसका नाम शंबर है यह सोम (आपः) को चुरा लेने से सभी कुछ शुष्क कर देता है; इसलिये यह शुष्ण कहलाता है। कद्रू काद्रवेयों या सर्पो की माता है और वैदिक असुर भी 'अहि' या सर्प कल्पित किये जाते हैं अतः वृत्र और शंबर को अनेक बार 'अहि' कहा गया है। जैसा कि ऊपर एक-श्येन कथा में कहा जा चुका है, कद्रू तथा सुपर्णी दोनों ही मायायें हैं। यथार्थ में ये एक ही वाक्-शक्ति के दो पक्ष हैं—एक ही विद्युत के ऋणात्मक तथा धनात्मक रूप हैं। एक असुर माया और एक देवमाया है। गायत्री श्येन जब शान्त काद्रवेय (पहले) को क्षुब्ध कर देती है, तो यह भी लड़ने के लिये उसका पीछा करती है और 'विज्ञानमय' से लेकर 'अन्नमय' सृष्टि तक सर्वत्र इन दोनों का झगड़ा होता रहता है। श्येन जिस सोम-वृक्ष रूपी सृष्टि-वृक्ष को खड़ा करता है, उसकी जड़ काटने के लिये कोई न कोई 'नीध्रुंग' या 'ऐन्द्र मैन्यु' लगा ही रहता है। तैंतीस देवता इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति के विचार से निन्यानवे रूपों में हो जाते हैं और सौवाँ इन सब का एकीभूत रूप विज्ञानमय में है। इसी प्रकार इन सभी देव शक्तियों को आवृत करने के लिए अथवा अपनी रक्षा के लिए काद्रवेय या असुर शक्ति भी सौ रूपों में विभक्त हुई कल्पित की जा सकती है। ये ही शम्बर के सौ 'पुर' हैं; जिनके भीतर सोम (आपः और प्रकाश) बन्द रहता है।

अतः जिस प्रकार सोम (प्रकाश) के लाने पर शंबर के सौ पुरों का विध्वंस करना पड़ता है, उसी प्रकार इन्द्र, सूर्य, उषा तथा आपः लाने के लिए भी ये

१—J. B. H. U. 1940 V. I. 'Interpretation of the Indra myth' **में विस्तार के साथ इन्द्र शत्रुओं का वर्णन किया गया है।**

पुर भेदने पड़ते हैं। जिस प्रकार कद्रू माया के पक्ष में आसुरी अन्धकार बर्फ, बादल आदि के 'पुर' मिल सकते थे, उसी प्रकार सुपर्णी पक्ष से उनको नष्ट करने के लिए प्रकाश, विद्युत्, गर्मी आदि के अस्त्र-शस्त्र मिल सकते थे। अतः इन्द्र राक्षस को सूर्य रश्मियों से जलाता है (८,१२,९) ; इन्द्र का वज्र, जो सौ (१८,६,६) या सहस्र (१,१८,१२) पर्वों का वज्र है, जो सुनहरा तथा सहस्र पंखों से युक्त कहा जाता है, (८,६६,७-११), वह अवश्य सहस्रांशु सूर्य प्रतीत होता है। उसका वज्र सुनहरा (१,५२,८;५७,२) बभ्रु. (३, ४४ ,१ ; १०, ९६, ३) या दीप्तिमय है (३,४४,५)। उसका स्वयं वज्र त्वष्टा या देव बनाते हैं और वह 'तप' या प्रकाश है[1]। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विद्युत वज्र का उल्लेख भी मिलता है, जिसको अंकुश, बाण आदि नाम भी दिए गए हैं (८, १८, १०; अ० वे० ६,८२,३,१०,४४, ९,८, ६६, ६; ८९,९)। निन्यानवे पुरों के कारण ही इन्द्र का वज्र भी ९९ स्थानों में विभाजित है (१,८०,८)।

अन्धकारमयी तथा बन्धनात्मिका कद्रू जहाँ इन देव-विरोधी असुरों को जन्म देती है वहाँ वह सुपर्णी की माँ भी कही जा सकती है ; क्योंकि निष्क्रिय वाक् (कद्रू) से ही सक्रिय वाक् (सुपर्णी) उत्पन्न होती है)। अतः कद्रू को यदि सर्पराज्ञी कहा जाता है, तो सुपर्णी को सार्पराज्ञी यह 'प्रश्नि गौ'[2] है, जो हमारे पिण्डाण्ड में श्वासोच्छ्वास क्रिया करती हुई जीवनी शक्ति रूपी अन्तर्ज्योति है तथा ब्रह्माण्ड में विविध रूप से प्रकाशित होता हुआ सूर्य है। यह वास्तव में ब्रह्म की शक्ति है, जो नानारूपात्मक सृष्टि में विकसित होकर 'अनिपद्यमान गोपा' को पतन की ओर ले जाकर 'पतंग' बना देती है। उसी के लिये यह तीस धाम विविध रूप से विराजती (प्रकाशती) है—सृजन करती है; अतः यह विराज भी कही जा सकती है[3]। आगमों में यही कुण्डलिनी कही गई है, जो कद्रू-रूप में सोती हुई तथा सुपर्णी रूप में जागृत कही जाती है। सारे असुरों का मूल होने के कारण इसी को देवों का असुरत्व 'महत्' अथवा प्रथम किल्विष कहा गया है। (१०,१०९,१)

(घ) अश्व, अश्विनौ तथा उषा-रात्रि—'विज्ञानमय' के अन्तर्गत पराची तथा सध्रीची अवस्था को हम क्रमशः 'अश्व' तथा श्वित (गर्भ) कह चुके हैं।

१—त्वष्टा वज्रमसिञ्चत। तपो वै वज्रमासीत् तु० क० ४, ४१, ४।
२—ऋ० वे० १, १८९, १-२।   ३—वही ३।

यह गर्भ प्रारम्भ में पुरुष (आनन्दमय कोशस्थ) में सब अंगों में व्याप्त रेतस् के रूप में होता है, जो वाक् स्त्री के गर्भाधान द्वारा सिञ्चित होने पर अश्वित होने से अश्व, फिर उसमें श्वित होने पर गर्भ तथा जन्म लेने पर 'मनोमय' रूप में नाना विध 'वर्षण' (नानारूपात्मक सृष्टि) करने के कारण 'वृषन्' या वृषभ' कहा जाता है। वाक् द्वारा यह गर्भ धारण, वर्धन तथा प्रसार करने को ही जल-सृष्टि तथा जल-वृष्टि के रूपक द्वारा भी व्यक्त किया गया है। परम व्योम (आनन्दमय ब्रह्म[1]) की सहस्राक्षरा वाक् वृषन् अश्व के 'रेतस्' सोम से जलों (सलिलानि) की सृष्टि करती हुई एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी तथा नवपदी होती है और उससे अनेक समुद्र क्षर क्षर करते हुए प्रवाहित होते हैं। इससे चारों दिशायें जीवन धारण करती हैं। इसी क्रिया द्वारा अक्षर (आनन्दमय ब्रह्म) का क्षरण होता है, जिससे सारा विश्व जीता है। आगम-ग्रंथों[2] में इसी सहस्राक्षरा वाक् को सहस्राक्षरा वाग्देवी कहा जाता है, जिसके भी निम्नलिखित नौ पद हैं।

१.[3] **काल**—निमेष से लेकर प्रलय तक, जिसके अन्तर्गत चन्द्र तथा सूर्य भी आ जाते हैं।

२. **कुल**—'रूप' (आकृति) रखने वाली सारी वस्तुएँ।

३. **नाम**—नामधारिणी सारी वस्तुएँ।

४. **ज्ञान**—दो प्रकार का सविकल्पक और निर्विकल्पक।

५. **चित्**—अहंकार, बुद्धि, चित्त, मन और उन्मन।

६. **नाद**—राग, इच्छा, कृति, प्रयत्न, जो क्रमशः परा पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी के समकक्ष हैं।

७. **विन्दु**—(आध्यात्मिक बीज) —षटचक्र (मूलाधार से आज्ञा तक)

८. **कर्म**—मूलाधार से आज्ञा तक पचास वर्ण।

९. **जीव**—माया-बद्ध आत्मा।

अतः जहाँ यह कहना ठीक है कि वाक् नानारूपात्मक सृष्टि रूप में व्यक्त होती है, वहाँ यह भी कहा जा सकता है कि आनन्दमय ब्रह्म ही अश्व श्वित

१—तु० क० ऐ० उ० २, १-५, जहाँ उक्त 'वामदेव' ऋषि की गर्भस्थ वाणी का भी उल्लेख है और दे० ऋ० वे० १, १६४, २५; ३, ४८, १ आदि।

२—तु० क० १, १६४, ३५ और १, १६४, ४१-४२।

३—दे० आनन्दलहरी' ३४ पर लक्ष्मीधर टीका।

(गर्भ) तथा वृषन् होकर सारे विश्व का कर्ता बनता है। अतः अश्व-सूक्तों[1] में कारण-ब्रह्म के समान ही अश्व का वर्णन किया गया है। वह देवजात वाजी विश्व रूप है। वह इन्द्र-पूषण का 'प्रिय' अथवा पूषण का विश्वदेव्य भाग ले जाता है और मित्र वरुण, अर्यमा, आयु, इन्द्र, ऋभुक्षा तथा मरुत, जो प्रकाशित होते हैं, वह सब उसी के कृत्य (वीर्याणि) हैं (१, १६२, १-४)। उसकी सारी क्रिया तथा सारा दाना-पानी देवों द्वारा ही होता है (१,१६२,१४)। वह समुद्र या पुरीष से सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला है और वह न कभी मरता है न क्षीण होता है (१, १६२, २१, १६२, १); दिव (पराची), समुद्र (सध्रीची) तथा आपः (तु०क० "सलिलानि')में से प्रत्येक स्थान पर उसके तीन बन्धन (इन्द्र तत्त्व, सोम तत्त्व तथा अग्नितत्त्व) हैं, अथवा वरुण[2] ही उसे आच्छन्न किये हुए है। इसीलिये वह 'परम जनित्र' कहलाता है (१,१६३,४)। इस पर सबसे पहले इन्द्र (पराची ब्रह्म) बैठा, गन्धर्व[3] (सध्रीची ब्रह्म) ने उसकी बाग पकड़ी तथा सूर (मार्तण्ड या मनोमय) से वह वसुओं द्वारा नानात्मक सृष्टि के रूप में काँटा-छाँटा गया। नाकमयी सृष्टि को एकीभूत या संयमित करने वाले यम (पराची ब्रह्म) ने जब इसको दिया, तो वह अग्नि-सोम-इन्द्रात्मक 'त्रित' (सध्रीची ब्रह्म) से युक्त हो गया (१, १६३, २)। अतः उसको यम (अश्वित), आदित्य (श्वित) तथा त्रित भी कहते हैं। वह सोम से आवृत रहता है (१, १६३, ४)। वह मनोजवा (मनोमय) ब्रह्म 'अवर' इन्द्र है, जिसकी देवता लोग आहुति दे देते हैं, जिससे अनेक अश्व-गण हंसों की भाँति श्रेणिबद्ध होकर निकलते हैं (१, १६२, ९-१०)। समुद्र से उत्पन्न होते समय उसके श्येन (अग्नि) के पक्ष तथा हरिण (सोम) के बाहु होते हैं (१, १६३,१)। यह अश्व वास्तव में आत्मा है; दिव से पतित होता हुआ 'पतंग' है (१, १६३, ६)।

उक्त अश्व के वृषन् रूप का नाम दधिका[4] भी है, जिसके लिये ऋ० वे० ४,३८,४८ सूक्त लिखे गये हैं। 'मनोमय' पुरुष से उत्पन्न 'प्राणमय' तथा 'अन्नमय' की सारी सृष्टि का सोम यदि 'पय' माना जाय, तो 'मनोमय' का सोम दधि और 'मनोमय' पुरुष को दधिका कहा जा सकता है। 'विज्ञानमय' में पहुँचकर

१—ऋ० वे० १, १६२; १६३; ४, ३८; ३९; ४० आदि ;।

२—वरुण—प्रकृति या माया (वाक्) दे० 'मित्रावरुण'।

३—तु० क० १०, १७७, २ दे० पिण्डाण्ड के अन्तर्गत 'पांक्त-पुरुष' और 'पंच कोश'। ४—ऋ० वे० ४, ३९, २।

मनोमय का दधि शुचि होकर घृत में परिवर्तित हो जाता है; 'विज्ञानमय' के 'समुद्र' से इसी घृत की 'मधुमान् उर्मि' उत्पन्न होती हुई ऋ० वे० ५,५८ में दिखलाई गई है। इस 'घृत' का मूल स्रोत ब्रह्म वृषभ है, जिसके चार सींग (जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय), तीन पैर (इन्द्र, सोम, अग्नि तत्त्व) दो शिर [ब्रह्म, वाक्], तथा सात हाथ [सप्तशीर्षण्य प्राण] हैं, और जो तीन बन्धनों [स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर] से बँधा हुआ मर्त्यों में है। इसी गौ में ही तीन आवरणों (विज्ञानमय का समुद्र तथा गर्भ और 'मनोमय') से पणियों द्वारा छिपाया हुआ घृत देवों को मिलता है और आवरणों में से क्रमशः इन्द्र (अश्व) सूर्य [श्वित] तथा वेन [मनोमय] द्वारा वह निकाला जाता है। निकलते ही वह सुनहरी तथा अरुण उर्मियों, सरिताओं तथा धाराओं के रूप में बहने लगता[१] है। 'मनोमय' की यह नानारूपात्मक सृष्टि ही 'यज्ञ'[२] है। ये सारी घृत-धारायें चारों ओर से फिर उसी में जाकर पवित्र होती हैं, जिसमें सोम तथा यज्ञ का जन्म होता है ; यह स्थान वही समुद्र है जिसमें सारा भुवन अधिष्ठित है (४, ५८, ९-११)

उषारात्री—कदाचित् अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्द्र, इन्द्रवायु यज्ञ, सोम तथा आदित्यगण या देवगण का जन्म और विकास, वृत्र या शम्बर बध द्वारा प्रकाश तथा 'आपः' की मुक्ति एवं पर्जन्य और उसकी वृष्टि आदि एक ही तथ्य को वर्णन करने के लिये विभिन्न रूपक हैं। इसका अभिप्राय यह है कि पिण्डाण्ड में 'मनोमय' तथा ब्रह्माण्ड में मनु या मार्ताण्ड का जन्म किस प्रकार होता है और उससे प्रकाश-रश्मियाँ किस प्रकार निकलती हैं। यही प्रथम प्रकाश-रश्मियाँ उषायें कहलाती हैं। अतः दधिक्रा रूपी 'मनोमय' से भी उषाओं का सम्बन्ध बतलाया गया है। वह जो 'स्वः' उत्पन्न करता है वह 'आपः' अग्नि, उषा, सूर्य, बृहस्पति तथा जिष्णु आंगिरस का ही 'इष' या उर्ज है (४, ४०,१२)। स्वयं दधिक्रा (मनोमय) से उत्पन्न नानात्मक सृष्टि के लिये बहुवचनान्त 'उषसः' का प्रयोग होता है (४-४०-१-२)। यही उषायें वे 'दिवः दुहितरः'[३] हैं, जो नाना भुवनों को फैलाती हैं और सप्तास्य (सातशीर्षण्य-प्राणमय) नवग्व (सप्त शीर्षण्य दो उपस्थापायु युक्त) तथा दशग्व (नवग्व + विदृति युक्त) अंगिरा को प्रकाशित करती है।[४]

१—वही ४-८। २—दे० मनु-यज्ञ' और 'अरुण वृक्ष'। ३—दे० वही।
४—४, ५१, १, ३; १०, ६, ६४, १-३; ७, ७५, ३, ७८, १; ३, ७९, २; १, १२३, २; ४, ९, २; १२४, २; ११३, ८; १५, ७; ७६, ३, ८०, ३।

इन्हीं नानात्वमयी प्रकाश-रश्मियों या उषाओं का नाम ही बहुवचनान्त 'ऋभवः' है, जिनका विधान करने वाली एक 'पुराणी' उषा है, जो इन सबको जन्म देती है:—

क्व स्विदासां कतमा पुराणी यया विधाना विदधुर्ऋभूणाम्
शुभं मच्छ्रु उषसश्चरंति न विज्ञायन्ते सदृशीरजुर्याः। (४, ५१, ६)
(४,५,१६)

यह 'पुराणी' अथवा 'युवती पुराणी' उषा वह अग्निसोम की अव्याकृत रश्मि है, जो 'विज्ञानमय' से प्रकट होती है और 'मनोमय' में आकर नानारूपात्मक उषाओं के रूप में व्यक्त होती है। यही मातरिश्वा या श्येन द्वारा स्वर्ग से यज्ञार्थ लाई जाती है (१,९३, ७ तु० क० १, १२३), सूर्य (गर्भस्थ इन्द्र) से मनुवायु या इन्द्र-वायु के लिये उत्पन्न की जाती है[1]; यही वह 'पुरंधी'[2] है, जिससे रश्मियों द्वारा अद्भुत और नवीन वस्त्रों का वितान फैलाती हुई उषायें प्रकट होती हैं और जिसको 'वायु' प्रतिबुद्ध करती है। यही वह 'पुरंध्रि'[3] सोम है, जिसको श्येन लाता है और जो 'अरातियों' का हनन कर, न केवल 'मनोमय' प्राणमय तथा अन्नमय के तीनों सवनों में, अपितु उन तीनों के अन्तर्गत सहस्रों तथा अयुतों सवनों के लिये भी पर्याप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह उषा ही गायत्री श्येन है, जो 'स्वर्ग' से सोम को लाती है। यही वह प्रथम उषा है, जो सोम तथा इन्द्र की माता तथा प्रजापति की दुहिता कही जाती है (इन्द्रपुत्रे दुहितासी प्रजापतेः)[4]

जैसे गायत्री के दो पूर्व रूप कद्रू तथा सुपर्णी हैं, वैसे ही उषा के भी दो रूप उषा और रात्रि हैं, जो यथार्थ में संयुक्त रूप में ही उत्पन्न तथा विकसित होते हैं। अतः उषा ही वह रात्रि रूपी गाय है, (अ० वे० ३, १०, १-२) जिस पयस्वती धेनु को पाकर देवलोक आनन्दित होते हैं। यद्यपि इनके रूप भिन्न-भिन्न हैं परन्तु वे यथार्थ में एक ही "ज्योतिषां ज्योतिः हैं" जो संयुक्त तथा समना होती होती हुई सारे भुवनों में फैली हुई हैं:—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरारााच्चित्र प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वां।
यथा प्रसूता सवितुः सवायं एवा राज्युषसे योनिपारैक ॥१॥

१—७, ९१, १, १, १३४; २—१, १३।
३—तु० क० ४ २६, ७; ऐ० ब्रा० ३, ५-३७; तै० स० १, १, ६ श० ब्रा० ४, ३, २, ७ मै० सं० ३, ७, ३, का० सं० २३, १० तु० क० Weber Ind stnd 8. 81, ४—अ० वे० ३, १०, १३।

रुशद्वत्सा रुशती श्वैत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत अभिनाते ॥२॥
समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमध्यान्य चरतो देवशिष्टे ।
न मेथेते न तस्थतुः समेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥

(१, ११३, १-३)

कद्रू सुपर्णी की भाँति, ये दोनों यद्यपि 'मनोमय' से अन्नमय' पर्यन्त सारी नानात्मक सृष्टि में मिले-जुले ही पाये जाते हैं, परन्तु फिर भी 'विज्ञानमय' की 'पराची' 'सध्रीची' अवस्थाओं में क्रमशः रात्रि-तत्व-प्रधान उन्मनी-शक्ति तथा उषा तत्त्व-प्रधान समनीशक्ति में इन दोनों के दो पृथक रूपों की कल्पना मात्र की जा सकती है। यथार्थ में दोनों वहाँ भी एक ही हैं। कद्रू की भाँति रात्रि-रूप में यह असुरत्वमयी होने से अंधकार, वृक, स्तेन, अहि, वृत्र आदि असुरों की जननी है; परन्तु उषा रूप में वह देवत्वमयी होने से उक्त सब का नाश कर सकती है। अतः ऋ० वे० १०, १२७, में साधारण रात के रूपक द्वारा उसका वर्णन किया गया है, जिसमें उसको रात्रि तथा उषा दोनों नाम दिये गये हैं और उससे अपना उषा-रूप व्यक्त करके तम दूर करने की प्रार्थना की गई है:—

ऋ० वे० १०, ११७ का अनुवाद,

पुरुरूपों में व्यक्त हो रही,
अक्षों द्वारा देवी रात्रि,
आती हुई अधिष्ठित करती विश्व-श्री ॥१॥
निम्न उच्च सारे देशों में,
व्याप्त हो रही अमृता,
ध्वस्त कर रही सारे तम को ज्योति-श्री ॥२॥
स्वसा उषा को व्यक्त किये,
निज अंत—स्तल से,
आती तम को दूर भगाती देवी-श्री ॥३॥
आज मुझे तू व्यक्त हुई,
तो मैंने पाया वास,
रात-वसेरा ज्यों पाते पेड़ों पर पक्षी ॥४॥
किया वसेरा ग्रामों ने,
पद-वालों ने, पर-वालों ने,
गया श्येन भी उसी हेतु वह अर्थी ॥५॥

दूर करो वृक वृकी,
स्तेन भी ऊर्म्ये !
सुगम बनो हे दुर्गे ! मुझको देवी ॥६॥
व्यक्त हुआ यह मुझ पर,
कृष्ण तमस स्थित है,
दूर उषे ! ऋण-तुल्य हटाओ, रात्री ॥७॥

इसी सूक्त से सम्बद्ध खिल सूक्त में, रात्रि के जिस स्वरूप का वर्णन आता है, उसको देखने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि आगमों की महाकाली जगदम्बा की कल्पना इसी पर आश्रित है । 'सर्वभूतनिवेशिनी भगवती' रात्री का चित्र उसी खिल रात्रि-सूक्त की निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है:—

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितरः प्रायु धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥१॥
ये ते रात्रि नृचक्षसो युक्तासो नवतिर्नव ।
अशीतिः संत्वष्टा उतो ते सप्त सप्ततीः ॥२॥
रात्रीं प्रपद्ये जननीं सर्वभूतनिवेशिनीम् ।
भद्रां भगवतीं कृष्णां विश्वस्य जगतो निशाम् ॥३॥
संवेशिनीं संयमिनीं ग्रहनक्षत्र-मालिनीम् ।
प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रीं भद्रे पारमशीमहि ॥४॥
स्तोष्यामि प्रयतो देवीं शरण्यां बह्वृचप्रियाम् ।
सहस्रसंमितां दुर्गां जातवेदसे सुनवाम सोमम् ॥५॥

फलतः दुर्गा सप्तशती के साथ-साथ एक रात्रि-सूक्त का पाठ भी आज किया जाता है, और ललिता-सहस्रनाम में रात्रि भी देवी का एक नाम है ।

अश्विनौ—अतः उक्त विवेचन से यह प्रकट है कि जिस 'वाक्' से युक्त होकर ब्रह्म 'अश्व' श्वित, तथा वृषन् अवस्थाओं में आता है । उस वाक् के दो पक्ष हैं—एक कद्रू या रात्रि दूसरा सुपर्णी या उषा ; यही दो 'हरी' हैं जो अश्व से युक्त रहते हैं (हरी ते युजा पृषती अभूताम्[१]) जैसा ऊपर देख चुके हैं, अश्व तथा श्वित ब्रह्म को 'परइन्द्र' तथा वषन्' को अवरइन्द्र' कह सकते हैं । अतः इन्द्र के भी यही दो 'हरी' हैं, जो स्वयं उसमें या उसके रथ में दायें बायें जोड़े जाते हैं । इसी प्रकार जोड़कर ब्रह्म इन्द्र अपनी 'माया' (वाक्) को लेकर चलता है:—

१—१, १६२, २१ ।

युक्तस्ते अस्तु दक्षिण उत सव्य शतक्रतो ।
तेन जायामुष प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजान्विन्द्रते हरी ।
युनज्मि ते ब्राह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्तयोः
उत त्वा सुतासो रभसा अमन्दिषुः पूषण्वान् वज्रिन्त्समुपत्न्यामदः
(१, ८२, ५-६)

'हरी' शब्द 'हृ' धातु से निकला है और इसका अर्थ 'हरण करने वाले या ले जाने वाले' प्रतीत होता है ! अतः अश्व के 'वृषन' (मनोमय) रूप से ही इनका मुख्यतः सम्बन्ध है; इसी रूप में वह अत्यन्त 'रंहणशील' होने के कारण 'रथ', विभिन्न उषा-रश्मि-रूपिणी गायों को प्राप्त करने के कारण 'गोविन्द' तथा 'हरियों' से युक्त होने के कारण 'हारि योजन पात्र' कहा जाता है :—

स घा तं वृषणं रथमधितिष्ठाति गोविदम् ।
यः पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्र चिकेतति ।
योजान्विन्द्र ते हरी ।
(१, ८२, ४)

अश्व के ये 'हरी' ही 'अश्विनौ' हैं। 'वृषन्' इन्द्र-वायु (अश्व) या 'मनोमय' पुरुष ही नानात्मक यज्ञ-रूप[1] में होकर अथवा 'अपः' तथा 'उषाओं', वातों आदि को उत्पन्न कर वृत्रों या असुरों पर विजय प्राप्त करने से 'जिष्णु' कहलाता है, अतः ये दोनों स्वयं 'अश्विनौ' होते हुए भी इसी 'अश्व' के 'हरी' हैं, जिनको निम्नलिखित मंत्रों में 'आपः' लाने वाला, 'यज्ञ' उत्पन्न करने वाला तथा इधर-उधर (इहेह) अपने नामों (नामभिः स्वैः) से ही अनेकशः उत्पन्न होने के कारण अनेक "**मनोजवा अश्वासः शुचयः पयस्या वातरंहसो दिव्यासोअत्याः**" गया है:—

कद्रु प्रेष्ठाविषां रयीणामध्वर्यन्ता यदुन्निनीथो अपाम् ।
अयं वां यज्ञो अकृत प्रशस्तिं वसुधिती अवितारा जनानाम् ॥१॥
आ वामश्वासः शुचयः पयस्पा वातरंहसो दिव्यासो अत्याः ।
मनोजुवो वृषणो वीतपृष्ठा एह स्वराजो अश्विना वहन्तु ॥२॥
आ वां रथोऽवनिर्न प्रवत्वान् त्सृप्रवन्धुरः सुविताय गम्याः ।
वृष्णः स्थातारा मनसो जवीयानहंपूर्वो यजतोधिष्ण्या यः ॥३॥
इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा[3] नामभिः स्वैः ।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्रऊहे ॥४॥

१—दे० 'मनु-यज्ञ' ।

प्रवां निवेरुः ककुहो वशाँ अनु पिशंगरूपः सदनानि गम्याः ।
हरी अन्यस्य पीपयन्त वाजैर्मथ्रा रजांस्यश्विना विद्योषः ।।५।।

'मनोमय' वृपन् रूपी रथ (अश्व इन्द्र)[1] के 'विज्ञानमय' मनोमय तथा प्राणमय कोश ही तीन चक्र हैं, इन्द्र-तत्त्व, अग्नि-तत्त्व तथा सोम-तत्त्व तीन बन्धु हैं, और 'विज्ञानमय' में स्थित इन्हीं तीनों के सूक्ष्म रूप ही इसकी तीन धातुयें हैं । यही त्रिवृत[2] या सुवृत रथ हैं, जिसको पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में चलाने वाले 'अश्विनौ' हैं, जो यथार्थ में 'दिव: दुहित्रा' या दो उषायें (उषारात्री) हैं:—

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान त्रिवन्धुरो वृष्णा वस्त्रिचक्र ।
येनोपयाधः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्नपर्णैः ।।१।।
सुवृद्रथो वर्तते यन्नभि क्षां यत् तिष्ठथः क्रतुमन्तानु पृक्षे ।
वपुर्वपुण्या सचतामियं गीर्दिवो दुहित्रोषसा सचेथे ।।२।।

(१, १८३, १, २)

अश्विनौ 'उषारात्री' का ही नाम होने से उषारात्री की भाँति ही ये अनेक रूपों में भी विभक्त हैं । 'पर लोक' 'अपरलोक' तथा अन्तरिक्ष में जो भी पुरुत्व या अनेकत्व दिखलाई पड़ता है, वह सब 'अश्विनौ' की कृति है ; अथवा दूसरे शब्दों में वह सब नाना-रूपों में उत्पन्न हुए अश्विनौ ही हैं, जो फिर एक 'बन्धु' में एकत्र हो गये हैं । उनका द्विधा वपु, संयुक्त होकर रथ-चक्र-रूप में पर्यटन करता-हुआ अपनी महिमा में मर्त्यलोक की रजोद्भूत क्रियाओं की सृष्टि करता है:—

यदद्य स्थः परावति यदर्वावत्यश्विना
यदवा-पुरू पुरुभुजा यदन्तरिक्ष आ गतम् ।।१।।
इहेत्या पुरुभूतमा-पुरूदंसांसि बिभ्रता,
वरस्या याम्यधिगू हुवे तुविष्टमा भुजे ।।२।।

१—दे० उ० '१, ८२, ४' में 'वृषणं रथं' ऊ० ऊ० ।

२—दे० १, ३४ जो पूरा सूक्त ही अश्विनौ के 'त्रिवृतत्व' पर पर्याप्त डालता है । तु० क० ।

क्व त्री चक्रा त्रिवृतो रथस्य क्व त्रयो वन्धुरो ये सनीडाः ।
नादा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथः ।।

(१, ३४, ९)

ईर्मान्यद् वपुषे वपुश्चक्रं रथ य येमथुः ।
पर्यन्या नाहुषा युगा मह्ना रजांसि दीयथः ॥३॥
तद्वषु वमिना कृतं विश्या यद वामजुष्टवे ।
नाना जातवरेपसा समस्मे बन्धमेयथुः ॥४॥

अश्विनौ का दूसरा नाम 'नासत्यौ' है । वाक् शक्ति के धनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों पक्ष अश्विनौ के अन्तर्गत आने से ये दोनों गति-अगति, प्रकाश-अंधकार, दिन-रात, आकाश-पृथिवी, उषा-रात्री, प्राण-अपान, उदय-अस्त आदि सभी द्वन्द्वों को प्रकट कर सकते हैं । [१] ये दो पक्ष ही सत् असत् कहे जाते हैं । वाक् शक्ति के अन्तर्गत ये दोनों ही पक्ष आते हैं ; अतः उसे न सत् कह सकते हैं न असत् । वेदान्त में इसीलिये 'माया' को 'सदसद्विलक्षणां' कहा गया है । 'अश्विनौ' में भी यही बात है—वे सत ही नहीं, तो 'असत्य' हैं ; परन्तु 'असत्य' भी नहीं हैं क्योंकि उनमें सत्य भी है । अतः उन्हें न+असत्यौ या नासत्यौ [२] कहा गया है । जैसे उषारात्री को केवल उषा या केवल रात्री कहा गया है, वैसे-ही 'अश्विनौ' को भी 'अश्विन' या 'नासत्य' जैसे एकवचन नाम दिये गये हैं । इस अवस्था में वाक् के क्रिया, ज्ञान तथा इच्छा पक्षों के द्योतक क्रमशः, अग्नि, इन्द्र तथा सोम हैं, [३] क्योंकि वाक् के दोनों पक्षों का उसके तीनों भेदों में विद्यमान रहना स्वाभाविक ही है । अतः अग्नि [४] के रुद्र रूप तथा हिरण्य रूप के अनुसार 'अश्विनौ' भी क्रमशः 'रुद्रवर्त्मनी' [५] तथा हिरण्यवर्त्मनी [६] कहलाते हैं । इन्द्र के तो वे दो हरी ही हैं और 'सोम' के सम्बन्ध से ही वे 'मधुकशा' हैं । उनका रथ मधुवाहन है, वे 'घृत' तथा मधु सिञ्चन करने के लिये आमन्त्रित किये जाते [७] हैं और संभवतः श्येन द्वारा सोम अवतारण से भी संबंध रखते हैं । [८]

१—तु० क० निर० १२, १, १-२; ६, १, ४ ।

२—दे० निर० ६, १; ४ ।

३—४, ३, ६; ८, ३२, ९; ४, ३७, ५; ५४, ११; ८, ६, ९; ९, ४१; ६१, १२; ६३, १२; ६७, ६; ९३, ४; ९, २५, ५; १५, ९; १५६, ३ ।

४—४, ३, १ ।

५—१, ३३; ८, २२, १; १४; १०, ३९, ११ ।

६—१, ९२, १८; ५, ७५, २; ३; ८, ५, ११, ८, १; ८७, ५ ।

७—१, १५७, २; ७, ५१, २ तु० क० २०१ ।

८—तु० क० ४, २७, ४; १, ११२, ६; १०; ११६, ३-५; १०, ४०, ७; ६५, १२; १४३, ५; ७, ६८, ७; ६९, ७; ८, २२, २, २ ।

अश्विनौ तथा सूर्या—सोम तथा अश्विनौ का सम्वन्ध सूर्या के आख्यान से भी प्रकट होता है । सूर्या उषा का ही दूसरा नाम है ; क्योंकि वस्तुतः वही एक उषा है, जो 'वायु-मनु' के लिये सूर्य से लाई जाती है । अतः उसके लाने वाले उषा के दो पक्षों (उषारात्री) के द्योतक 'अश्विनौ' ही हो सकते हैं । सूर्या (उषा) के उत्पन्न होने में पहले क्रियाशक्ति-द्योतक अग्नि-तत्त्व आता है और उसके साथ ही उसके दो पक्ष अश्विनौ । अतः अग्नि 'पुरोगः' और अश्विनौ सूर्य के 'वर' कहे जाते हैं । परन्तु क्रिया-शक्ति (अग्नि) के पश्चात्, इच्छा-शक्ति द्योतक सोम प्रकट होता है ; इसलिये सूर्या का पति सोम है । सोम-तत्त्व के पश्चात् अग्नि तथा सोम दोनों का संयुक्त रूप इन्द्र-तत्त्व आता है; यही 'गन्धर्व' है जिसको सूर्या सोम के द्वारा दी जाती है । इतना तो विज्ञानमय की पराची अवस्था तक का वर्णन हुआ ; जिसे कद्रूत्व या उन्मनी-शक्ति का वर्णन कहा जा सकता है । इसके पश्चात् 'सध्रीची' अवस्था में वह 'समनी' शक्ति हो जाती है। अब उसमें अग्नि-तत्त्व की प्रधानता होकर क्रियाशक्ति-मय सुपर्णीत्व आ जाने पर सूर्या 'मनोमय' में उतर कर सारी मनोमय सृष्टि में व्याप्त होकर रहने लगती है । इसीलिये 'मनोमय' सृष्टि की नाना शक्तियाँ उसके नाना मनुष्यज पति कहे जाते हैं । मनोमय सष्टि ही उसका गृह है, जहाँ वह मन रूपी रथ पर बैठकर जाती है । इसका अक्ष शरीर में विविध रूप से व्याप्त 'व्यान' प्राण है और ऋक-साम (क्रिया तथा इच्छा) शक्तियों से युक्त श्रोत (शब्द) ही इसके दो चक्र हैं:—

> **मनो अस्या अन आसीद द्यौरासीदुतच्छदिः**
> **शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्यागृहम् ।**
> **ऋक्सामाभ्यमभिहितौ गावौते सामनावितः ।**
> **श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ।**
> **शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।**
> **अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् ।**

ये दो चक्र तो केवल सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल-शरीर में ही चलते हैं और इनको तो ब्राह्मण 'ऋतु' द्वारा ही जान लेते हैं । परन्तु तीसरा चक्र 'विज्ञानमय' तो गुहा में छिपा है, जिसको केवल योगी (धातय) लोग ही जान सकते हैं । जब अश्विनौ, सूर्या को द्विचक्री गाड़ी से ही मनोमय सृष्टि में सूर्या को लाते हैं, तो पूषा (पोषक अग्नि) और विश्वदेवा (इन्द्रिय शक्तियाँ आदि) अश्विनौ से जानते हुए भी पूछते हैं कि तीसरा चक्र कहां है ?

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुँसूर्यायाः ।
विश्वेदेवा अनुतद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीतपूषा ।
यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थतुः ।
द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद्गुहा तदद्धातय इद्विदुः ।

(१०, ८५, १४-१६)

(ङ) बृहती, बृहस्पति तथा ब्रह्म—पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि वाक्, उषा, रात्री या सूर्या किस प्रकार 'विज्ञानमय' से लेकर अन्नमय तक विकसित होती है। 'वाक' का एक से अनेकत्व में विकसित होना ही ब्रह्म का विकास है, अक्षर का क्षरण है—भगवती ऋक् या सहस्राक्षरा गौरी द्वारा अक्षर-ब्रह्म का नानाकरण है :—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
(३९) यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥१।
सूर्यवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम् ।
(४०) अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमा चरंती ॥२॥
गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
(४१) अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥३॥
तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
(४२) ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति ॥४॥

इसलिये ब्रह्म को भी विकसने वाला कहा गया है, और 'श्विगतिवृद्धयोः' के सहारे उसे विभिन्न अवस्थाओं में अश्व (अश्वित), श्वित तथा वृषभ अश्व कहा गया है। इस 'गति-वृद्धि' के अर्थ को 'वृह' धातु[1] भी व्यक्त करती है और शचीपति की 'माया' की गति-वृद्धि के लिये भी इसका प्रयोग हुआ (६, ४५, ९) है। इसीलिये वाग्देवी जगदम्बा ललितासहस्रनाम में 'वृहती' कही जाती है और 'वृहत संहिता' उसकी सारी सृष्टि का वर्णन करती है। वैदिक ग्रन्थों[2] में भी बृहती 'वाक्' का नाम है ; और 'रात्री' या 'उषा' भी वृहती कही गई है:—

१—१, १३०, ९; ३, ३०, १७; ६, ४५; ९; २, ३०, ६; ८, ४५, ८; ८, ६७, २१; ६, ४४, ११; १०, १६३, १-६ अ० वे० ८, ९१-७; छ० उ० ४, १७, १-३ इत्यादि ।

२—श० ब्रा० १४, ६, १०, २; जै० उ० ब्रा० २, २, ५ श० ब्रा० १४, ४१, २२;

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितरः प्रायु धामभिः ।
दिवः सदांसि बृहती वितिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ।।

अथर्ववेद ८,९, १-७ में निश्चित रूप से विश्वात्मा या जगत्पिता को ब्रह्म, जगन्माता या माया को 'बृहती' तथा दोनों की संतान को 'बृहत' नाम दिया गया है और उनकी गति-वृद्धि को 'बृह' धातु से व्यक्त किया गया है ।

वृषन् या 'मनोमय' की बृहती का 'बृहः'[1] नाम भी है और 'मनोमय' पुरुष बृहस्पति या बृहती का पति[2] कहलाता है । अतः बृहस्पति वृपन इन्द्र या अवर इन्द्र से बहुत मिलता-जुलता है । इन्द्र की भांति वह भी एक सैनिक है। जन्म लेते ही 'बल' का संहार कर गायों को छुटाता है ; अंधकार को दूर करता है, वज्र धारण करता है; स्थिर को अस्थिर कर देता है ; शम्बर के पुरों का भी भेदन करत है ; मघवन् कहलाता है और उषा, सोम सूर्य आदि को व्यक्त करता है ।[3] इन्द्र की तरह उसको भी वृपन् तथा जिष्णु कहते हैं और वह 'अहि' को मारकर सप्त-सिन्धुओं को छुटाता तथा द्यावापृथिवी की रक्षा करता है ;[4] और वह स्वयं 'इन्द्र' नाम से पुकारा भी जाता है :—

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं बृषणं शूरसातौ भरेभरे अनुमदेम जिष्णुम् ।
यदा वाजमसनद्विश्वरूपमाद्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म ।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा ।
सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथःस्वेभिरेवैः ।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ।

बृह० उ० १, १, २२; छा० उ० १, २, ११ तु० क० श० ब्रा० १०, ३, १; १, ६, ३, १, १९; वा० सं० ११, ७, ३०, १ इत्यादि ।

१—ऋ० वे० ६, ४८, १७ ।

२—बृ० उ० १, २, २०; ५, ४३, ६; ८०, १! ६, २२, १०; १०, २७, १७; ६७, १, ७४, ४ Oldenberg. R. V. 46. 1. Hillebrandt. An. Brahm n in E. R. E.

३—१, ३२, २-५; १, ४०, ६-८; ७, ७, ३२; २, २६, ४ तु० क० २, १२, ५; १७, ६७, ४, ६; ६८, ७ ।

४—९, १२७-१७, ६७, १० ।

इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य विमूर्धानमाभिनदर्बुदस्य ।
अहन्नहिमरिणात् सप्तसिन्धून् दैवेर्द्यावापृथिवी प्रावतन्नः ।

(१०, ६७, ९-१२)

साथ ही, बृहस्पति तथा अग्नि में भी अत्यन्त सादृश्य है । दोनों ही त्रिसधस्थ हैं (४, ५०१; ५, ४, ८)दोनों का जन्म 'परम व्योम' में हुआ है ४, ५, २, ६, ८, ९) ; दोनों मातरिश्वा (३, ३६, १, ३, ०९, ११) नराशंस १, १८,९, ३, ९, १ और आंगिरस (२, २३, १८; १, १६), हैं । दोनों पुरोहित तथा ब्राह्मण हैं (२, ४९, ९, १, १, ०, १४, ३०, १,२) तथा दोनों ही यज्ञ करते हैं (१, ३९, २, ४, १) । दोनों ही अंधकार (४, ५०,४; ८, ४३, ८-३२) रोग । (१, १८, २, १, १२, ७) तथा राक्षसों (२, २३, १४; ०३, १, ८ का नाश करते हैं । दोनों ही शवसो नपात'(१, ४, २; ३, ३), ऋषि(२, २३, १; २,६) तथा पितृतुल्य हैं (७, ९७, ४, १, १७) ।

अतः बृहस्पति के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं । मैक्समूलर[१] मैक्डानेल[२] तथा कीथ[3] के अनुसार वृहस्पति अग्नि का एक रूप है और वेबर[४] तथा हापकिंस[५] की सम्मति में वह इन्द्र का एक रूप है ।

बृहस्पति के उपर्युक्त वर्णन से इन दोनों मतों के लिये पर्याप्त अधार मिल जाता है । इसलिये बृहस्पति को न केवल अग्नि और न केवल इन्द्र ही माना जा सकता है । यथार्थ में बात यह है कि अग्नि, इन्द्र और सोम तो वाक् शक्ति के व्याकृत अंग हैं और ऊपर जिस इन्द्र का वर्णन किया गया है, वह यही इन्द्र है । परन्तु इन व्याकृत रूपों में परिव्याप्त वाक्-शक्ति या वृहती का एक अव्याकृत रूप भी है । इस बृहती के पति रूप में ही इन्द्र ब्रह्म को वृहस्पति कहा जाता है । इसलिये ही इसके अन्तर्गत अग्नि और इन्द्र दोनों आजाते हैं । इसी बृहती को 'ऋत-प्रजाता भी' कहा गया है जो सप्तशीर्षण्य प्राणों में व्याप्त होने के कारण 'सप्तशीर्षणी' कही जाती है :—

"इमा धियं सप्तशीर्षणीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविंदत्"। दूसरे शब्दों में, पहले जिस इन्द्र का वर्णन हो चुका है, वह उसका भौतिक पक्ष है और बृहस्पति में उसी के आध्यात्मिक पक्ष का समावेश होता है । अतएव इस रूप में वह 'धियः' का प्रेरक, मंत्र का उद्गाता, प्राथिव होताओं को 'वाक्' देने वाला तथा

१—S. B. E. 32 95. २—V. M. I. I-14.
३—Indian Mythology. 45. ४—RI. 135 ५—वही ।

वाक् का पति कहा जाता है। इसी बृहस्पति-रूप में इन्द्र वास्तव में ज्ञान-शक्ति का अधिष्ठाता माना जा सकता है[१]। अतः बृहस्पति के अन्तर्गत हमारे 'मनोमय' पुरुष का 'ज्ञान-पक्ष' आता है, जब कि 'इन्द्र' के अन्तर्गत उसका क्रिया-पक्ष है। यही कारण है कि पुराणों में जाकर बृहस्पति, इन्द्र-समेत सभी देवताओं का गुरु बन जाता है। जिस प्रकार 'मनोमय' का इन्द्र 'अवर' तथा विज्ञानमय का पर' कहलाता है, उसी प्रकार 'मनोमय' का बृहस्पति 'ब्रह्म' तथा 'विज्ञानमय' का ब्रह्मणस्पति कहलाता[२] है, क्योंकि मनोमय (ब्रह्म) का स्वामी (पति) 'विज्ञान-मय' पुरुष ही है। इस देवता का एक नाम, जिसका प्रयोग बृहस्पति के दोनों रूपों के लिये हो सकता है[३], ब्रह्मा प्रतीत होता है। जब दोनों पक्षों से अभिप्राय होता है, तब ' इन्द्राबृहस्पत'[४] द्वारा व्यक्त किया जाता है। ऋ वे० ४-५०-८ में स्पष्ट रूप से इन्द्र को क्षत्र-शक्ति-प्रधान (क्रिया-शक्ति-प्रधान) तथा ब्रह्मण-स्पति को ब्रह्म शक्ति (ज्ञान शक्ति) प्रधान मानते हुए कहा गया है कि राजा में जब ब्रह्मा प्रधान रहता है, तभी उसकी प्रजा उसके सामने विनत रहती है।

इन्द्र और बृहस्पति का यह भेद उनकी पत्नियों में भी विद्यमान है। अतः जब कि बृहस्पति की पत्नी बृहती को 'धी' आदि ज्ञान-सूचक नामों द्वारा पुकारा जाता है, इन्द्र की पत्नी पुराणों की भांति वेद में भी 'शची' है, जो केवल क्रिया-शक्ति होने से 'उग्रा विवाचनी मूर्धा' कही जाती है। नानारूपात्मक सृष्टि में विविध रूप से विराजने वाली विराजवाक् भी इसी की दुहिता है, और उससे उत्पन्न होने वाले अनेक 'विराजानि' (विराजके रूप') यथार्थ में इसी शची के विभिन्न रूप मात्र हैं। इसीलिये पुलोमा शची आत्म-प्रशंसा करती हुई कहती हैः—

> **उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।**
> **अहंतद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥१॥**
> **अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी ।**
> **ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥२॥**

१—१०, ६७, १।

२—**दूसरे दृष्टिकोण से लगभग इसी प्रकार के मत के लिये दे०** Griswold Brahman. 8; Stramos B. V. 23 Olenberg R. V. 75-68.

३—१०, १४१, ३; १, ८०, १, १६४, ३५।

४—४, ५०।

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट् ।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ।।३।।
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः ।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ।।४।।
असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्ति अभिभूवरी ।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ।।५।।
समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी ।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ।।६।।

परन्तु, जिस प्रकार इन्द्र और वृहस्पति उसी एक ब्रह्म के रूपांतर मात्र हैं, जो 'विज्ञानमय' तथा 'मनोमय' दोनों में हैं, उसी प्रकार वृहती तथा शची भी इसी एक 'वाक्' का ही रूपान्तर है, जो सूर्या, उषा-रात्री आदि नाम से प्रख्यात है और जो 'विज्ञानमय' से लेकर 'अन्नमय' तक में रहती है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं, 'आनन्दमय' का 'यक्ष' (ब्रह्म) तो अकर्ता है और सारी सृष्टि रूप में विकसित होने वाली उसकी शक्ति 'वाक्' है । दूसरे शब्दों में 'वृह' धातु से ? व्यक्त होने वाली सारी क्रिया का प्रधान कारण 'वाक्' ही है, इसीलिये वाक् को ही ब्रह्म[1] भी कहा जाता है । 'आनन्दमय' कोश का यक्ष 'वाक्' से पृथक नहीं हो सकता—शक्तिमान् तथा शक्ति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है; अतः 'ब्रह्म' (वाक्) में विचरण करने से, वह ब्रह्मचारी कहलाता है । दूसरे 'आनन्दमयकोश' में वाक् रूपी स्त्री से संसर्ग न रहने से भी वह शुद्ध रूप में 'ब्रह्मचारी' तथा 'विज्ञानमय' कोश में आकर वाग्जाया से युक्त होने के कारण ब्रह्मचर्य-भ्रष्ट होकर 'व्रात्य' कहलाता है । अथर्ववेद में इन दोनों का स्तवन क्रमशः ११, ७ तथा १५,२ और ५,१५ में किया गया है ।

जिस प्रकार 'वाक्' के संपर्क में आने से 'यक्ष' या आत्मा पाप करके व्रात्य हो जाता है, उसी प्रकार 'वाक्' भी आत्मा के संसर्ग में आकर 'प्रथमकिल्विष' की भागिनि बनती है, क्योंकि 'विज्ञानमय' कोश में जन्म लेते ही उसके भीतर 'अकूपार सलिल' अथवा 'मातरिश्वा' रेतस रूप में विद्यमान होता है और जब

१—वाग्वै ब्रह्म० ऐ० ब्रा० ६, ३; श० ब्रा० २, १, ४, १०, १४, ४, १, २३, १४, ६, १०;५; वाग्धि ब्रह्म ऐ० ब्रा० २, १५, ४, २१; वागिति ब्रह्म जै०उ० ब्रा० २, ९, ६ या सा वाक् ब्रह्मैवतत्, जै० उ० ब्रा० २, १३, २ वाग्ब्रह्म गो० ब्रा० १, २, १० ।

वह प्रथम बार सोम को दी जाती है तभी उसके भीतर (मित्रावरुण गर्भ-रूप में विद्यमान हो जाते हैं। ऋ० वे० १०, १०२ में इसी 'ब्रह्मजाया' का उल्लेख है। वह भी सूर्या की भाँति सोम आदि अनेक पतिओं की पत्नी होती है; परन्तु जैसा कि अ० वे० ५,१७ में लिखा है, ये अनेक पति जो इसको विभिन्न स्त्रियों के रूप में आते हैं, इसके पति नहीं हैं। इसका वास्तविक पति तो 'ब्रह्मा' ही है, जिसने इसका पाणिग्रहण किया है। अ० वे० ५,१८ में इसी ब्रह्मजाया का ब्रह्म-धेनुके रूप में वर्णन किया गया है, जिसका स्वामी ब्रह्मा (मं० ८), अग्नि 'पद-वाय' और सोम 'दायाद' है। आत्मा एक है और इसकी शक्ति 'वाक्' ही उसकी 'जाया' है , जो प्रथमतः अग्नि, सोम तथा इन्द्र तत्त्वों में व्याकृत होती है। यही तीन तत्त्व मिलकर सारी नानामयी सृष्टि कर डालते हैं। परन्तु यह सब नानात्व उसी एक शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है ; इन सभी रूपों में 'आत्मा' भी रहता है ; क्योंकि शक्ति से शक्तिमान् पृथक नहीं हो सकता। अतः वाक् के साथ-साथ 'आत्मा' का रूपान्तर होता जाता है और जैसे जैसे वाक् एक से अनेक होती जाती है, वैसे वैसे ही आत्मा भी एक से अनेक होते जाते हैं। अतः जो 'ब्रह्मजाया' एक है, वह अनेक पत्नियों का रूप धारण करके अनेक आत्माओं को पति रूप में ग्रहण करती है ; परन्तु यथार्थ में उसका पति एक ही है, वही 'आत्मा है' ब्रह्मा है।

२—इदम् और अहम् की त्रिकुटी

(क) **नाम-रूप-कर्म**—अभी तक पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का जो वर्णन हो चुका है, उसमें क्रिया, इच्छा और ज्ञान अथवा अग्नि सोम तथा इन्द्र तत्त्वों का खेल देखा गया है। परन्तु इस सारे विश्व में एक त्रिविधता और है, जिसके अन्तर्गत उक्त तीनों तत्त्वों का खेल होता है, इसके अनुसार "सारे विश्व में जो कुछ है वह नाम, रूप तथा कर्म है। इनमें से नामों का 'उक्थ' (उद्गम) वाक् है; क्योंकि इससे ही सारे नामों का उद्भव होता है यही सब नामों का साम है; क्योंकि यही सब नामों से सम है; यही सब नामों का ब्रह्म है, क्योंकि यही सब नामों का विभरण करती है। सारे रूपों का चक्षु 'उक्थ' है; क्योंकि इसीसे सब रूपों का उद्भव होता है; यही इनका 'साम' है; क्योंकि यही सब रूपों द्वारा 'सम' है, यही इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही सब रूपों का विभरण करता है। सारे कर्मों का आत्मा 'उक्थ' है; क्योंकि इसी से सब कर्मों का उम्दव होता है, यही इनका साम है; क्योंकि यही सब कर्मों के द्वारा 'सम' हैं; यही इनका

ब्रह्म है, क्योंकि यही सब कर्मों का विभरण करता है। यह त्रतय एक सत् है; यही आत्मा है। यह एक होते हुए भी 'त्रतय' है। यही सत्य से छादित (आवृत) अमृत है; प्राण ही अमृत है और नाम, रूप सत्य है; इन्हीं दो से प्राण छादित है[१]।"

जैसा कि इस उद्धरण से भी व्यक्त है, यहाँ नाम, रूप तथा कर्म शब्दों का प्रयोग सामान्य अर्थों में नहीं हुआ है। यद्यपि यह ठीक है कि साधारण दृष्टि से सभी नाम वाक् द्वारा बोले जाते हैं, सभी रूप चक्षु द्वारा देखे जाते हैं और सभी कर्म आत्मा या प्राण द्वारा किये जाते हैं; परन्तु इतने से ही इस 'अवतरण' का अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण[२] के अनुसार नाम शब्द 'नम्' धातु से निष्पन्न है; जिसका अर्थ 'प्रह्वत्व' है[३] और जो 'प्रह्वत्व' की भांति ही अवनमित होने तथा 'पुकारने' अर्थों में क्रमशः 'नमति-ते'[४] एवं नन्मते[५] आदि दो रूपों में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार 'नाम' शब्द द्वारा वैदिक दर्शन में एक विशिष्ट अर्थ प्रकट होता है—अव्यक्त का व्यक्त होना या अरूप का रूप होना ही 'अवतरण' या अवनमन' है और व्यक्त अथवा 'रूप' होकर ही वह पुकारा जा सकता है। अतः तुलसीदास जी[६] के कथनानुसार नाम उभय प्रबोधक है, जिससे 'अगुन' और सगुन अव्यक्त और व्यक्त दोनों का बोध होता है। ऐसे ही चक्षु शब्द 'चक्ष्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ 'व्यक्तवाक्'[७] है। इसलिये इसको व्यक्त करने वाले चक्षु के अतिरिक्त 'मनोमय' में भाव-चक्षु है; क्योंकि इसी के द्वारा 'विज्ञानमय' का अव्याकृत तथा अव्यक्त व्याकृत और व्यक्त होता है। इसी कारण वाक्, चक्षु और प्राण के उक्त त्रतय में चक्षु के स्थान में 'मन' भी रक्खा जाता है[८]। जिस प्रकार स्थूल शरीर में वाक् तथा चक्षु की कोई क्रिया प्राण-तत्त्व

१—बृ० उ० १, ६, २-३। २—७, १, ४, २५।

३—नम् प्रह्वत्वे दे० पा० धा० पा० १।

४—४, ५०, ८; १०, ३४, ८; ७, ५६, १९, ८, ९७, १२, ९; ९७, १५; ५, ३६, ६; ५०, ४; १०, ४२, ६ आदि।

५—१, १४०, ६; ५, ८३, ५; १०, ८२, १; १०; ४९, ५।

६—अगुन सगुन विचनाम सुसाखी।
उभय-प्रबोधक चतुर दुभाखी।

७—चक्षु व्यक्तायां वाचि २, ७

८—१, ५, ३-१३,

के बिना नहीं हो सकती, उसी प्रकार सूक्ष्म-दृष्टि से भी वाक् तथा मन की कोई क्रिया आत्म-तत्व के बिना नहीं हो सकती, जिसके कारण ही उसे 'प्राण' भी कहा जाता है ।

इस दृष्टि से 'नाम' वह शक्ति है जो अव्यक्त से व्यक्त होकर रूप धारण करती है, रूप उसी अव्यक्त का व्यक्तीकरण या व्यक्ति का कारण है । प्राण या आत्मा वह है जो नाम तथा रूप के द्वारा अव्यक्त, व्यक्त, तथा मूर्त्त होकर कर्म-रूप में प्रकट होता है । अतएव प्राण (आत्मा) को 'अमृत' तथा नाम-रूप को उसे आवृत करने वाला 'छादन' अथवा तुलसी दास[1] जी के शब्दों में (उपाधि) कहा जा सकता है । यदि आत्मा को अविज्ञात कहें, तो नाम को विज्ञात तथा रूप को विजिज्ञास्य कह सकते हैं:—

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किंचह विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति । यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनोहि विजिज्ञास्यं मन एवं तद्भूत्वा अवति । यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एव तद्भूत्वाऽवति । (बृ० उ० १, ३, ८-१०)

'नाम' विज्ञात रहते हुए भी विज्ञानमय की अवस्था में वह वैदिक साहित्य द्वारा अपीच्यं नाम या 'गुहाहितं नाम' ही कहा जाता है, क्योंकि व्यक्त तो वह भी होता है, जब 'मनोमय' में वह रूपसम्पन्न हो जाता है। 'नम्' धातु का 'विलोम' "मन' होने से, नाम की अव्यक्तावस्था की विपरीतावस्था (रूप) को 'मन्' धातु द्वारा प्रकट करने में बड़ी सुविधा हुई ; अतः मनोमय में 'विज्ञानमय' की समनी नाम (वाक्) शक्ति जिस रूप में प्रकट होती है, वह 'मन्त्र'[2] है और यही आपना मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय रूप में 'वृहण' कर लेने पर 'ब्राह्मण' कहलाती है । इसी प्रकार 'देव' जिस रूप में प्रकट होता है, वह उसका (देव का) विलोम 'वेद[3]' कहलाता है और उक्त कारण से वह वेद 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक'[4] है । मन्त्र-

---

१—नाम रूप दुइ ईस उपाधी ।
अकथ अनामि सुसामुझि साधी ।

२—तु० क० मन्त्रस्मननात् नि० ७, १२ ।

३—वेदोऽसि वेनत्वं देव वेद, देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः, वा० सं० २, २१ तु० क० १९, ७८ अ० वे० ४, ३५, ६; १५, ३, ७ ।

४—तु० क० "मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः" आदि को सामान्य अर्थ में लेने से बहुत वादविवाद चला था ।

रूप तथा ब्राह्मण-रूप में केवल दूसरा ही मनुज (मनु या मनोमय से उत्पन्न) लोकों (प्राणमय तथा अन्नमय) की सृष्टि है। मन्त्र-ब्राह्मण दोनों ही रूपछन्द हैं, जिस प्रकार उक्त नाम-रूप अमृत 'आत्मा' का छादन करने वाला 'सत्य' कहा गया है, उसी प्रकार छन्द भी 'छादन' करने से ही 'छन्द' कहलाते हैं:—
"स छन्दोभिश्छन्नो यच्छन्दोभिश्छन्नस्तस्माच्छंदांसीत्याचक्षते, छादयंति ह वा एनं छन्दांसि",[1]

(ऐ० ऐ० २, ४, ६)

इतना ही नहीं उपर्युक्त त्रितय में से 'वाक्' (नाम) तथा मन (रूप) को स्पष्टतया छन्द कहा गया है। (**वाग्वैसरिरं छन्दः; मनो वै समुद्रश्छन्दः**) और इन दोनों में से दूसरा (रूप या मन) पहले (नाम या वाक्) का ही व्यक्त रूप होने से, यथार्थतः ये दोनों एक ही वाक् या विराज हैं, अतः विराज को भी छन्द कहा गया है:—

(ख) छन्द और छन्दोमा—इसका अर्थ यह कि छन्द उस वाक् विराज् का नाम है जो सांख्य की प्रकृति या वेदान्त की माया के समकक्ष है। सारा विश्व इसी से विकसित होता है ; अतः छन्द सारे विश्व का रस[2] है ; वह एक सूत्र[3] है, जिसमें सारा नामरूपात्मक जगत् बंधा हुआ है, छन्द आत्मा या प्रजापति को आवृत कर लेता[4] है और उससे आवृत आत्मा अतिरूप कहलाता[5] है। विराज् वाक् की जिन तीन शक्तियों ऋक्, यजु और साम का उल्लेख हो चुका है, वे सब छन्द में होने से, उससे आच्छन्न पुरुष उन सब से युक्त कहा जाता है **"सउ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साम-मयो वैराजः पुरुषः—एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोक्षन् वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत।"** मूल छन्द से ही उत्पन्न होने वाले सारे देव, दिशायें, पशु, अश्व, पृथिवी, अन्तरिक्ष, नक्षत्र, वर्ष आदि विश्व के नाना

१—तु० क० ता० म० ब्रा० १०, १, १९ श० ब्रा० १२, १९ का० सं० १८, १ ता० मं० ब्रा० १४, ५, २६, १४; ११, ३५, १५; ५, ३२ आदि।

२—ष० वि० ब्रा० २, ४, १, १, अन० तै० ब्रा० ३, २, ४, २।

३—कौ० ब्रा० १६, २, श० ब्रा० १०, ५, ४, १४,

४—ऐ० ब्रा० २, १६; कौ० ब्रा० ११, ४, तै० ब्रा० ३, २, ४, ३, ३, ३, ३, ४, ५, ३, ७, ३, ४; ३, ९, ७, ५;

५—श० ब्रा० १३, ४, १, १३, तु० क० वा० सं० १४, १८-२०; का० सं० १, ३, मं० सं० २, १, ९।

रूप भी छन्द कहलाते[१] हैं और इन सभी छन्दों को आप्य (द्रवीय) वायव्य तथा पिंडीय वर्गों में विभाजित किया गया है, जिनको नाना रूप में करने वाले देवों को 'कवि' कहा गया है:—

त्रीणि छन्दाँसि कवयो वियेतिरे पुरुरूपं दर्शतं विचक्षण
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भवन अर्पितानि ।

इन सब छन्दों को अपने अन्तर्गत करने के कारण मूल छन्द को 'अतिच्छन्दा' या 'छदिच्छन्दा' कहते हैं (**अतिच्छन्दा वै छदिच्छन्दः साहि सर्वाणि छदांसि छादयति**) विविध नाम रूप में उत्पन्न होने वाले इस मूल छन्द का उद्गम भी इन्द्र-ब्रह्म (निष्कल अनिपद्यमान गोग) से होता है :—

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्ने-
तस्मादिमे नामरूपे विषूची ।
नाम् प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्न-
मेकं छन्दो बहुधा चाकशीति ।

मूल छन्द के एक से अनेक होने के कारण, उसके द्वारा आच्छन्न आत्मा भी एक से अनेक हो जाता है और प्रत्येक छन्द के भीतर व्याप्त यह 'छन्दोमा' कहलाता[२] है। विभिन्न छन्द छन्दोमाओं के निवासस्थान कहे जाते हैं; [३] छन्दोमा छन्दों को वैसे ही प्रकाशित करते हैं जैसे दिन अंधकार को[४]। सारे छन्दोमाओं को तीन लोकों के विचार से तीन वर्गों में रखा गया है, जिनके समष्टि-रूपों को ध्यान में रखकर तीन छन्दोमा माने जाते हैं, जिनको देवता भी पूजते हैं[५]। तीनों लोकों के विभिन्न छन्दों, छन्दोमाओं, प्रजाओं, शक्तियों तथा सामों का वर्णन प्राय: आता है (छ. उ. ४, १७ बृ. उ. १, २, श० ब्रा० १४,४,३,२४, तै० ब्रा० २,२,४,३, श० ब्रा० ६,३,१,१७,६,७,३,१०,९,३,३,६,३,१,१८,१,२,४,२० तां० म० ब्रा० १६,१६,४,७,१,१, गो० ब्रा० २,६,१४ श० ब्रा० ६,६,२,७५, कौ०

१—श० ब्रा० ८, २, २, ८; तै० सं० ५, ६, ६, तै० ब्रा० २, २, ८, ४८, जै० ब्रा० ९९।
२—कौ० ब्रा० २६, ७,
३—ता० मं० ब्रा० १०, १, १९,
४—ता० मं० ब्रा० १४, ११, १४,
५—कौ० ब्रा० २६, ११, श० ब्रा० १२, १, ३, १९,

ब्रा० ३,२,२२,७, ऐ० ब्रा० २,२,) और उनके नाम भी छन्दों की भांति दिये गये हैं:—

संख्या	लोक	छन्दस्य-नाम	छन्दोमा	प्रजा	शक्ति	साम
१	भू	गायत्री	अग्नि (प्राण)	मनुष्य	क्षत्र-ओज	गायत्र
२	अंतरिक्ष	त्रिष्टुभ	वायु वात या इन्द्र	पितर और असुर	क्षत्र,ओज	बृहत्
३	द्यु	जगती	आदित्य या सूर्य	देव	बल	वैरूप

इन तीनों लोकों के अतिरिक्त एक परम या बृहत् जेष्ठ[1] लोक भी है, जो उक्त तीनों लोकों का उद्भव स्थान है, जिसका छन्दस्य नाम अनुष्टुप, छदिछन्दा[2] या अतिछन्दा है, जो और सर्वोच्च विराज्[3], सब छन्दों का रस[4]; अमृत छन्द[5] तथा सबका अमृत रूप[6] कहलाता है।

(ग) **ऋषि, देवता और छन्द**—छन्दों के भीतर रहने वाले आत्माओं को देवता[7] भी कहा जाता है और काठक संहिता में कुछ छन्दों तथा देवताओं के नाम इस प्रकार दिये गये हैं:—

१—श० ब्रा० ७,५,२, ३४, ८,६, ३,२१ तु० क० वा० सं० १३,४९, ५,५१५२

२—ता० मं० ब्रा० १५, १२, २, ४; ८, १०, ६, ३, ४; श० ब्रा० ८, २, ५ ता० ब्रा० १, ४, ४, ९; ता० मं० ब्रा० ११, ५, १७, ६, ७, ३ कौ० ब्रा० २४, ४, २२, ७-८

३—ता० मं० ब्रा० २४, १०, २, ८; ७, ३, ८, १०; श० ब्रा० १३, ३, १।

४—ता० मं० ब्रा० १५, १२, २; ४, ८, १०।

५—श० ब्रा० ६, २, ४, ४ तु० क० वा० स० १४, ९।

६—ता० मं० ब्रा० ८, ६, १४ तु० क० १९, १२, ८।

७—वा० सं० १४, १८-१९, का० सं० १७, ३-४ मै० सं० ५, ११९ जै० ब्रा० ९९.

संख्या	छन्द	छन्दस्य नाम	देवता
१	पृथिवी	मा	अग्नि
२	अंतरिक्ष	प्रमा	वात
३	द्यौ	प्रतिभा	सूर्य
४	समा	अस्रीवयः	चन्द्रमा
५	नक्षत्र-गण	पंक्ति	वसवः
६	वाक्	उष्णिक	रुद्रगण
७	मन्	अनुष्टुप	आदित्यगण
८	कृषि	विराज्	मरुद्गण
९	हिरण्य	बृहती	विश्वदेवगण
१०	गौ	गायत्री	इन्द्र
११	अजा	त्रिष्टुप	वरुण
१२	अजा	जगती	बृहस्पति

अतः विश्व के अनेक छन्दों (रूपों) में स्थित देवता ही नाना कर्म रूप में व्यक्त होते हैं, और इन देव-कर्मों द्वारा ही यह विश्व-यज्ञ चल रहा है, जिसका कर्त्ता तथा संहर्ता एक परमात्म पुरुष है। वह इन सारे देवताओं के रूप में व्यक्त होता है (१०, १३०, १-५) इन सारे देवताओं का जगत में प्रवेश होना ही ऋषियों की उत्पत्ति है (१०,१३०,५-६) क्योंकि देवों के उस प्रवेश से यथार्थ में ऋषि ही छन्द-सहित होकर आवृत होते हैं, और उनके (देवताओं) के 'पूर्वेषां पन्थ' के अनुसार इस विश्व-यज्ञ की बागडोर अपने हाथ में लेते हैं :—

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त-दैव्याः
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो३ नरश्मीन् ।

(१०, १३०, ७)

इसका अभिप्राय यह है कि इस विश्व का जो मूलभूत 'त्रितय' वाक्, मन और प्राण (आत्मा) अथवा नाम, रूप और कर्म बतलाया गया है, उसको वस्तुतः ऋषि, छन्द तथा देवता भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में विश्वकर्मा के

जो ये नाना देव-कर्म हो रहे हैं, उनके कर्त्ता आत्मा या प्राण ही देवता हैं। वे जिन रूपों (शरीरों) द्वारा सम्पादित होते हैं, वे ही छन्द हैं; और आत्मा (प्राण) की जो 'वाक्' छन्दों में आवृत होती है, वही ऋषि[1] है। इसीलिये वाक् को विश्व-सृज्, विश्वकर्मा ऋषि[2] कहा गया है; क्योंकि जिस प्रकार सारे देवता एक आत्मा के ही रूपान्तर मात्र हैं, उसी प्रकार सारे ऋषि तत्वतः एक ही वाक् विश्वकर्मा ऋषि के ही रूपान्तर मात्र हैं।

देवता, ऋषि तथा छन्द के इस विवेचन के अनुसार ही वैदिक सूक्तों के देवता, ऋषि तथा छन्दों का निरूपण किया जा सकता है। वैदिक सूक्तों के देवता, छन्द तथा ऋषि भी देखने में अनेक से लगते हैं। इनमें से देवताओं की अनेकता में एकता की मीमांसा पिछले प्रकरणों में हो चुकी है और उसके अनुसार उक्त देवताओं के समान वे (सूक्तों के देवता) 'आत्मा' के ही रूपान्तर हैं। ऋषि तथा छन्द भी इन्हीं देवताओं की क्रमशः नानारूपा वाक् शक्ति तथा उसको आच्छन्न करने वाला रूप है। मूल वाक् के ऋक, यजु तथा साम रूपों में क्रमशः अग्नि इन्द्र (सूर्य) तथा सोम तत्त्व होते हैं[3]; अतः कभी कभी तीन ऋषि ही माने जाते हैं। इन तीनों का संयुक्त-रूप 'अथर्वाङ्गिरस' चौथा ऋषि है, इन्हीं चार ऋषियों के आधार पर कदाचित् स्वामी दयानन्द ने अग्नि आदित्य, वायु तथा अंगिरा इन चार ऋषियों को ही मूल वैदिक ऋषि बतलाया। वैदिक साहित्य में उल्लिखित सात आदित्यों या सात देवों का वर्णन हो ही चुका है; अतएव वाक भी सप्तविधा होने के कारण 'सप्तशीर्ष्णी' बृहती कहलाती है और इसीलिये सप्त ऋषियों[4] का भी उल्लेख मिलता है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सूक्तों में जो छन्द का नाम रहता है, वह न केवल उस सूक्त के छन्द का नाम है अपितु पिण्डाण्ड या ब्रह्माण्ड के उस 'रूप' का भी नाम है, जिसका वर्णन उस सूक्त में किया है। इसी प्रकार किसी सूक्त का 'देवता' उस सूक्त में व्यक्त होने वाला 'आत्मा' या प्राण है और जिस शक्ति (वाक्) के द्वारा वह उसमें व्यक्त होता है, वही उसका 'नाम' या ऋषि है। दूसरे शब्दों में वह 'देवता' (आत्मा या प्राण) वाच्य है, ऋषि (शक्ति या वाक्) वाचक है और छन्द बचन है। अतएव ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी में लिखा है:—

१—दे० तै० आ० २, ९, १, तु० क० सायण नि० २, ३, २.

२—वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिर्वाचा हीदं सर्वं कृतम्

(श० ब्रा० ८, १, २, ९, तु० क० १३, ५८)

३—दे० पिण्डाण्ड। ४—वही। ५—१०, १३०, ७।

"यस्य वाक्यं स ऋषिः । या तेनोच्यते सा देवता ।
यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः ।

अतः ऋग्वेद के दूसरे से लेकर आठवें मण्डल तक के सूक्त जिन ऋषि-परिवारों के बताये जाते हैं, वे विभिन्न स्तरों पर आत्मा की शक्तियाँ ही हैं; संक्षेप में उनका वर्णन निम्नलिखित किया जा सकता है:—

गृत्समद—जैसा कि नाम से ही प्रकट है, गृत्समद से 'आत्मा' की उन शक्तियों का बोध होता है जो अन्नमयकोश में 'गृत्स' (काम) का 'मद' (नशा) कहला सकती हैं । यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अन्नमयकोश में आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि की जिन शक्तियों द्वारा, व्यक्त होता है उनका वाच्य ज्ञान स्वरूप 'आत्मा' काम द्वारा आवृत रहता है, जैसा कि श्रीमद्भगवद गीता के निम्नलिखित श्लोकों से भी प्रकट होता है ।

काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

विश्वामित्र—जैसा कि पहले कह चुके हैं, मित्र तथा मात्रा (माया) एक ही 'मा' धातु से निकले हैं और 'मित्र' का अर्थ मात्रा (माया) से युक्त 'आत्मा' है। विश्वामित्र के अन्तर्गत आत्मा की वह शक्ति या वाक् आती है जिसके द्वारा विश्व रूप (विश्वानिरूपाणि) मित्र (मित अथवा मायायुक्त) हैं। अतः विश्वामित्र का क्षेत्र पिण्डाण्ड में समस्त स्थूल शरीर है तथा ब्रह्माण्ड में सारा मूर्त जगत उसका क्षेत्र है, जिसमें वह नाना सृष्टि करता है । विश्वामित्र का दूसरा नाम 'गाधिन्' भी है । गाधिन् शब्द 'गाधृ प्रतिष्ठा लिप्सयोः से निकला है और उसका अर्थ गाधा (प्रतिष्ठालिप्सा) वाला है । स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखने के कारण, विश्वामित्र में भी 'गृत्समद' की भाँति ही काम-लिप्सा आदि प्रमुख हैं, जिसकी उत्पत्ति 'रजः'[1] से होने के कारण ही कदाचित उसे 'राजर्षि' भी कहा जाता है।

१—काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः (उ० उ०)

(देखिये वशिष्ट भी)

वामदेव—वामदेव के विषय में पूर्व प्रकरणों में लिखा जा चुका है। वह 'मनोमय' की शक्ति है; जो गर्भ रूप में 'विज्ञानमय' में रहती है और जिससे स्थूल शरीर की विश्व-सृष्टि उत्पन्न होती है।

अत्रि—अत्रि का मूल अर्थ 'अ + त्रि' प्रतीत होता है। स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया अथवा सोम, इन्द्र तथा अग्नि तीनों तत्त्व व्याकृत अवस्था में रहते हैं; परन्तु 'विज्ञानमय' में 'मयूराण्डरसवत्' एकीभूत होकर 'अ + त्रि' रह जाते हैं। दूसरे शब्दों में, अत्रि में सारी नानात्वमयी सृष्टि समा जाती है या कवलित हो जाती है, अतः एक कृत्रिम निर्वचन द्वारा अत्रि को सबका 'अत्ता' (खाने वाला) भी कहा जाता है और उसकी निष्पत्ति 'अद्' धातु से की जाती है :—

> **वागेवाऽत्रिर्वाचाह्यन्नमद्यते अत्ति हि वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति** (श० ब्रा० १४, ५, २, ६ तु० क० वृ० उ० २, ३, ४ तै० आ० ९, ८ अ० वे० ४, २१, ३)

भरद्वाज—'विज्ञानमय' की जिस एकीभूत अवस्था को संहार की दृष्टि से 'अत्रि' कहा गया है, वही सृष्टि या प्रसार की दृष्टि से गर्भ या 'त्रित' भी कहा जा सकता है, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है—'अश्व' को एकत्, 'श्वित' को द्वित तथा गर्भ को ही इन्द्र-सोम-अग्नि-तत्त्वात्मक 'त्रित' कहते हैं। यह गर्भस्थ इन्द्र, वृषन् या 'वामदेव' है, जो बाहर आकर नानारूपमयी सृष्टि में व्यक्त होता है; यही कूप में पड़ा हुआ 'त्रित' है जिसकी पुकार को बृहस्पति सुनता है और बाहर 'मनोमय' से लेकर 'अन्नमय' तक की सृष्टि के भारण पोषण तथा 'वाज'-(शक्ति या अन्न) का कारण होने के कारण इसी को 'भरद्वाज' भी कहते हैं:—

> **"मनो वै भरद्वाज ऋषिरत्र वाजो यो वै मनो विभर्ति सोऽन्नं वाजंभरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः।"** (श० ब्रा० ८, १, १, ९, अ० वे० ४, २९, ६; १८, १३, १५; नि० ३, ३, ५; ऐ० आ० २, १९;)

वसिष्ठ—वसिष्ठ को मैत्रावरुणि भी कहा जाता है। हम लिख चुके हैं कि ब्रह्म और वाक्, पुरुष और प्रकृति अथवा मायी और माया के अव्याकृत रूप को ही 'मित्रावरुण' कहते हैं। वसिष्ठ इसी अव्याकृत सत्ता की शक्ति या वाक् है। वाक् या छन्द मुख्यतः 'छादन' करने वाली होने से 'वस् आच्छादने' से निष्पन्न 'वसिष्ठ' नाम को ग्रहण करती है। साथ ही उस अवस्था में 'पवमान' सोम' अथवा शुद्ध सौन्दर्यानुभूति रहने से इसी को सत्वप्रधान कामायनी या श्रद्धा भी

कहा जाता है ; इसी से 'वश कान्तौ' निष्पन्न 'वशिष्ठ' नाम भी उसी 'वसिष्ठ' का है । सत्व-प्रधान होने से इसे ब्रह्मर्षि भी कहते हैं । योगियों की सविकल्पक समाधि में ही शक्ति के इस रूप का अनुभव होता है; इस अवस्था में पहुंचकर सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । अतः वसिष्ठ ब्रह्मर्षि के पास सर्व कामनाओं को तृप्त करने वाली कामधेनु भी बताई जाती है। राजर्षि विश्वामित्र के पास 'गाधा' है— नानात्वमयी लिप्सा है और उसकी पूर्ति के लिए वह ब्रह्मर्षि वशिष्ठ की 'कामधेनु' चाहता है; परन्तु इसके लिए उसे तप द्वारा 'ब्रह्मर्षि' बनाना आवश्यक है । यों तो वशिष्ठ तथा विश्वामित्र दोनों में इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के तीनों तत्त्व हैं ; परन्तु विश्वामित्र के त्रितत्व 'रजोमय' गाधा (लिप्सा') से युक्त तथा अशुद्ध हैं; अतः इस रूप में विश्वामित्र का यह 'त्रिशंकु' (इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपी तीन शंकुओं से युक्त) वशिष्ठ के स्वर्ग में नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वहाँ जाने के लिए सत्वशील होना आवश्यक है ।

कण्व—कण्व शब्द की निष्पत्ति 'कण्' धातु से है, जिसका अर्थ 'छोटा होना' है । अतः कण्व द्वारा 'वाक्' का सूक्ष्मतम रूप अभिप्रेत है। पा०, धा०, पा० के अनुसार 'कण्' का अर्थ 'शब्दार्थ निमीलन तथा गति' भी है । अतः कण्व शब्द से 'वाक्' के सूक्ष्मतम रूप के अन्य लक्षण भी सरलता से व्यक्त हो सकते थे । वाक् के सूक्ष्मतम रूप में भी शब्द और अर्थ, वाचक और वाच्य अथवा माया और मायी विद्यमान रहते हैं ।

इसी रूप में सारी नानात्वमयी सृष्टि का 'निमीलन या 'लय' होता है और सृष्टि के दृष्टिकोण से देखें तो इसी से सारी सृष्टि का उन्मीलन या प्रसार होता है और इसलिये वह पूर्ण-रूपेण 'गति' भी है ।

इन्हीं सप्त ऋषियों के क्षेत्रों का वर्णन दूसरे से लेकर आठवें मंडल तक में मिलता है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नाम की मूल धातु 'नम्' का ही उलटा मन है । अतः उक्त सात ऋषियों अथवा सप्त नामों का क्षेत्र यथार्थ में मनः शक्ति ही के सप्त रूप हैं जिनको सुविधा के लिए सप्त मन कहा जा सकता है । इन सातों में जितनी शक्तियाँ काम करती हैं वे वास्तव में मन ही की शक्तियाँ हैं । अतः उक्त सात मंडलों में मन की इन्हीं सात दशाओं का वर्णन है । आठवें (ऋ० वे० के नवम्) मंडल में मन की इन सातों अवस्थाओं में झर-झर कर आने वाले पवमान सोम का वर्णन किया गया है । प्रथम मंडल में सृष्टि के दृष्टिकोण से सारे पिण्डाण्ड और ब्रह्माड का वर्णन है, अतः उसमें प्रसंगवश कई ऋषियों के नाम आ जाते हैं । उसी प्रकार दशम मंडल में संहार अथवा

संकोच की दृष्टि से सम्पूर्ण पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का वर्णन होने से कई ऋषियों का वर्णन होना स्वाभाविक ही है। शेष सात मंडलों में मन की सातों अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् वर्णन होने से एक-एक ऋषि के परिवार से ही उनका संबंध कहा गया है। विस्तार भय से यहाँ सभी वैदिक ऋषियों का वर्णन न करके केवल मूल सप्तर्षियों के वर्णन से ही संतोष करना पड़ रहा है।

(घ) **ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र**—नाम, रूप तथा कर्म के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि इन तीनों में से प्रत्येक तत्त्व का उद्‌भव (उक्थ) स्थिति (विभरण) तथा संहार (साम) होता है। और उक्त तत्त्वों की इन तीनों क्रियाओं (उद्‌भव, स्थिति तथा संहार) को करने वाले क्रमशः वाक्, चक्षु (मन) तथा प्राण (आत्मा तत्त्व हैं। अतः इस दृष्टि से वाक्, चक्षु (मन) तथा प्राण में से प्रत्येक के तीन पक्ष हो जाते हैं :—

उद्‌भव संबंधी वाक्	उद्‌भव संबंधी चक्षु (मन)	उद्‌भव संबंधी प्राण (आत्मा)
स्थिति ,, ,,	स्थिति ,, ,, ,,	स्थिति ,, ,,
संहार ,, ,,	संहार ,, ,,	संहार ,, ,,

इनमें से उद्‌भव-संबन्धी वाक्, चक्षु (मन) तथा प्राण (आत्मा) को ब्रह्मा का; स्थिति-सम्बन्धी वाक्, चक्षु (मन) तथा प्राण (आत्मा) को विष्णु का तथा संहार-संबंधी वाक्, चक्षु (मन) तथा प्राण (आत्मा) को रुद्र का लोक कहा जाता है, यद्यपि निम्नलिखित के से प्रत्येक 'त्रतय' ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र लोकों में से हर एक में पाया जाता है, परन्तु फिर भी इन तीनों लोकों में क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय तत्त्व की प्रधानता है:—

इच्छा	ज्ञान	क्रिया
साम	यजु	ऋक्
स्वः	भुवः	भुः
सोम	इन्द्र (सूर्य)	अग्नि
तमः	सत्व	रज
आनन्द	सत्	चित्
बुद्धि	मन	चित्त
नाम	रूप	कर्म
वाक्	चक्षु (मन)	प्राण

ब्रह्मा—उक्त तीनों लोकों में से उद्‌भव या सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले लोक का देवता ब्रह्मा है, जिसका कुछ वर्णन हो चुका है। हम ऊपर देख चुके

हैं कि यही देवता बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, या विश्वकर्मा भी कहलाता है। ऋग्वेद में इसके लिये दो पूरे सूक्त (१०,८१,८२) मिलते हैं। वह 'विश्व-भुवनों' का होता ऋषि तथा हमारा पिता है (१०,८१,१)। वह धाता, विधाता, परम-संदृक, (ऋषि) विश्वकर्मा है, जिसमें 'सप्त-ऋषि' केवल 'एक' कहे जाते हैं, (१०८२, २) वह विश्वधामों और भुवनों को जानने वाला विधाता, जनिता तथा पिता है, जो सभी देवों का एक मात्र 'नामधा' है और जिससे सारे ऋषि उत्पन्न हुये हैं (१०,८२,३-४)—न केवल इतना ही, अपितु 'रजः' से सम्बन्ध रखने वाले सारे दैवी तथा आसुरी 'भूत' और द्यावापृथिवी एवं देवासुर से परे सारी सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी से हुई है (१०,८२,४-५)। सारे विश्व का स्रष्टा होने के कारण वह विश्वतश्चक्षु, विश्वतोमुख, विश्वतोबाहु तथा विश्वतसुपात् कहा जाता है (१०,८१,३)। जिस सामग्री से उसने यह सारी सृष्टि-रचना की है, वह कुतूहल का विषय है:—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्षआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
(१०, ८१, ४)
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यज देवा समपश्यन्त विश्वे ॥
(१०, ८२, ५)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वाक् (नाम) मन (रूप) तथा कर्म में से ब्रह्मा के लोक में प्रत्येक ही है। अतः वाक् (नाम) की दृष्टि से ब्रह्मा (विश्वकर्मा) को वाचस्पति तथा 'नामधा एक एव' कहा जाता है (१०,८१,७,८२,३) और वाक् के ही अन्तर्गत अथर्वांगिरस, ऋक्, यजु तथा साम वेद आजाने से ब्रह्मा[1] को चतुर्मुख या चारों वेदों का ज्ञाता कहा जाता है। वाक्, नाम और वेद की धातुओं की निष्पत्ति क्रमशः कवि, मन, तथा देव शब्दों से हुई है, क्योंकि प्रथम (वाक् या शक्ति) द्वितीय (शक्तिमान अकर्ता) की सक्रिय शक्ति होने से उसका विपरीत-रूप ही कल्पित किया गया है। अतः ब्रह्मा के लिये 'मनोजुव' विशेषण भी प्रयुक्त होता है (१०,८,७)। कर्म-तत्त्व उक्त कवि और वाक् या देव और वेद अथवा मन और नाम के संयोग का परिणाम है; इसी बात को व्यक्त करते हुये बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषदों में वाक् और कवि तत्त्वों के संयोग को सा तथा अमः का संयुक्त रूप बतलाकर संयुक्त-रूप प्राण को बृहस्पति ब्रह्मणस्पति या साम कहा गया है:—

१—दे० ऊ० 'वेद और वाक्'।

एष उ ऐव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः । एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः एष उ एव साम वाग् वै सा अम ऐष सा च अमश्चेति तत्साम्नः साम्नत्वम् ॥

बृ० उ० १, ३, २०-२२ ॥

यद्यपि कर्म-तत्त्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार वाक् तथा प्राण के इस संयुक्त साम रूप से ही होती है, इसकी क्रिया का मूल कारण वाक् की सक्रियता ही है। अतः, 'वाक्' को इस रूप में कर्म की 'कृ' धातु के विलोम ऋक् द्वारा व्यक्त किया जाता है और इस दृष्टि से उक्त प्राण या बृहस्पति को ऋच्यध्यूढं साम कहा जाता है:—

वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं सामतस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम (छा० १, ७, १,)

विष्णु—स्थिति अथवा रक्षण-सम्बन्धी लोक विष्णु का है, अतः वह त्राता कहलाता है (१,१५५,४), जो सारी पार्थिव सृष्टि को शरण तथा जीवन दान देने के लिये उसके तीन 'अभिक्रमण' करता है (१,१५५,४; १५४,१; ६,४९, १३; ७,९९,३; १००,४; ६,६९,५,) ये तीन 'क्रमण' वही नाम, रूप, कर्म अथवा वाक्, मन, प्राण हैं, जो एक दृष्टि से, सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी यथार्थतः क्रमशः कारण, शरीर (विज्ञानमय), सूक्ष्म-शरीर (मनोमय) तथा स्थूल-शरीर (प्राणमय अन्नमय) में ही स्पष्ट होते हैं। अतः इसके दो 'क्रमण' तो 'मर्त्य' जन की पहुँच में हैं, परन्तु तीसरे में पहुँचना उसके वश का नहीं (१,१५५,५)। वहाँ तक तो श्येन की ही पहुँच हो सकती है, जिसका वर्णन ऋ० वे ४,२६-२७ में किया गया है। उक्त वाक् मन और प्राण अथवा गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती या गरुड़ (गरुत्मत्) सम्पाति तथा जटायु में से केवल वाक् गायत्री या (गरुड़) श्येन ही वहाँ तक पहुँच सकता है; अन्य तो केवल मर्त्य हैं, जो वहाँ जाने का प्रयत्न करने पर भी फिर फिर गिर पड़ते हैं (**तृतीयमस्या नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः १, १५५, ५**)।

इसमें पहुँचने के लिये मर्त्य नर को 'देवयुः' या विष्णु-बन्धु होना आवश्यक है (१,१५४,५)। इसी तृतीय क्रमण को विष्णु का परमपद भी कहा जाता है, जिसका सुन्दर वर्णन ऋ० वे० १,१५४, में इस प्रकार किया गया है:—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरि-शृंगा-अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।

बृहस्पति या ब्रह्मा के समान विष्णु भी इन्द्र का ही एक (पालक) रूप है। अतः ऋग्वेद ६,६९ में इन्द्राविष्णु सर्वथा एक ही हैं। इन्द्र तथा सूर्य में; जैसा पहले कह चुके हैं, कोई अन्तर नहीं है, यही कारण है कि विष्णु के वर्णन में ऐसी बहुत सी बातें मिल जाती हैं, जिनके आधार पर विष्णु को विद्वानों ने सूर्य का ही एक रूपान्तर माना है। पालनकर्म में अनुकूल तत्त्वों की सृष्टि तथा प्रतिकूल तत्त्वों का संहार दोनों का समावेश होता है ; इसलिये विष्णु के दो रूपों का उल्लेख आता है, जिसमें से पहला रञ्जनकारी होने से अधिक चाहा जाता है:—

किमित्त्ये विष्णो परिचक्ष्यं भूत् प्रयद् ववक्षे शिपि-विष्टोऽस्मि मा वर्पो अस्मदपगूह एतद् यदन्यरूपः समिथे वभूव । (ऋ० वे० ७, १००, ६)

रुद्र—नाम, रूप तथा कर्म तत्त्वों का संहार-पक्ष रुद्र के अन्तर्गत आता है। संहार के दो रूप हैं—एक पालनात्मक, जिसमें रोग, व्यसन, शरीर आदि अनुपयुक्त अशुभ पक्ष के विनाश द्वारा शुभ या उपयुक्त पक्ष की सृष्टि हो जाती है ; दूसरा प्रलयात्मक, जिसके अनुसार सारा नाम-रूप-कर्म फिर मूल-प्रकृति में लीन हो जाता है—'रात्री' में प्रविष्ट कर जाता है। यही कारण है जहाँ रुद्र भय का कारण है (२,३३,४; १०-११), वहाँ वह कल्याण करने वाला (२, ३३,७; १, ११४,४) और 'जलाष भेषज' या 'शंतम' औषधियों का स्वामी भी है। उसके पुत्र 'मरुत' हैं, जो दस दिशाओं की दृष्टि से दश रुद्र हैं और ग्यारहवाँ स्वयं आत्मा 'रुद्र' हैं ; पिण्डाण्ड में भी इसी प्रकार दश प्राण तथा ग्यारहवाँ इन सब में व्यापक प्राण या आत्मा है, जो 'रुद्र' कहे जाते हैं:—

"कतमे रुद्राः इति दशमे पुरुषे प्राणाआत्मैकादशः"

(श० आ० ११,६,१,७! १४,९,९,५; वृ० उ० ३,९,४ छा ३,१,)

ब्रह्मा तथा विष्णु की भाँति रुद्र भी इन्द्र-ब्रह्म का ही एक (संहार) रूप है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रुद्र में अग्नितत्त्व की प्रधानता है। अग्नि-तत्त्व-ब्रह्मा में भी है, क्योंकि इसके बिना सृष्टि क्रिया नहीं हो सकती है। परन्तु वहाँ सोमतत्त्व की ही अधिक प्रधानता है, अतः वह सृजनात्मक 'रजः' में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार रुद्र के अन्तर्गत सोम अग्नि की प्रधानता के कारण संहारात्मक 'रजः' (तम) में बदल जाता है। अतः रुद्र तथा ब्रह्मा के अन्तर्गत आने वाले अग्नि के दो रूपों को क्रमशः रुद्र तथा 'हिरण्य' कहा गया है —

आवो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् । (४, ३, १)

रुद्र उषा देवी के उदर से उत्पन्न होने वाला 'कुमार' (श० ब्रा० ११,६, ३,७) है ; यह 'उषा', जैसा ऊपर देख चुके हैं, वही त्रिपुर सुन्दरी जगदम्बा है जिससे 'देवी-भागवत' में ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र का जन्म बताया गया है और जो वेदों में 'अदिति' रात्री, उषा' आदि नामों से पुकारी जाती है। कुमार तथा रुद्र अग्नि के नौ नामों में से दो नाम हैं, (श० ब्रा० ६, १, ३, १८; १,७,३,८) तु० क० अ० का० १, १,४२-४३; १,१,६० म० भा० ५,२२५,१५,१९) और समिद्ध अग्नि को प्रायः रुद्र कहा जाता है (श० ब्रा० २,३,१,९; ऋ० वे० २, १,६; तै० ब्रा० १,५,९-९; १, ,६,६; १,१,८,४; ४,४,३,६; तां० म० ब्रा० १२,४,२४; श० ब्रा० ५; ३, १,१०; ६; १,३,१०,५; २; ४१,३; २,७,३,८, ६,१,३,८) ब्राह्मण ग्रंथों में अग्नि के नाम रुद्र, महादेव, पशुपति उग्र तथा नील-कण्ठ भी हैं (श० ब्रा० ६,१३,८; तै० ब्रा० २,११,३,४,२; श० ब्रा० ३,२,४, १०; ७,३,८,६,३,२,८,१२,७,३,२) । अतः रुद्र के विवेचन में अग्नि को जो स्थान दिया गया है, वह उपयुक्त ही है ।

नाम-रूप जगत (उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय)

१—उत्पत्ति

(क) सृष्टि—पिछले प्रकरणों में जगदम्बा बृहती का वर्णन हो चुका है। विराज, वाक्, उषा, रात्रि, सूर्या, शची, ब्रह्ममाया आदि अनेक नामों से उसका उल्लेख किया जा चुका है। गर्भावस्था में वह विराजसलिल कहलाता है जहाँ मित्र और वरुण, अन्नाद और अन्न[1] अथवा पुरुष और प्रकृति अव्याकृत अवस्था में रहते हैं और 'मनोमय' सृष्टि के नाम-रूप में व्यक्त होते हैं, अथवा पूर्ण व्यक्त रूप में[2]। जैसा पुरुषसूक्त तथा भगवद् गीता में वर्णन किया गया है, विराट् सम्पूर्ण[3] व्यक्त सृष्टि को अन्तर्भूत करते हुए उससे कहीं अधिक बड़ा है। प्रस्तुत प्रकरण में अव्याकृत विराट् की पुरुष और प्रकृति रूप में व्याकृति तथा उन दोनों के संयोग द्वारा होने वाली नाम-रूप की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का वर्णन किया जावेगा। इस प्रसंग में उन सभी क्रियाओं और प्रक्रियाओं का संक्षिप्त वर्णन होगा* जो नाम-रूपात्मक जगत के सृजन तथा पालन में पाई जाती हैं।

इस प्रकार के प्रयत्न में एक बात ध्यान में रखने की यह है कि वेद साहित्य है, विज्ञान नहीं ; अतः वेद के वर्णन में वैज्ञानिक तर्क विश्लेषण ढूंढना व्यर्थ है। साहित्य कीं अपनी निज की प्रणाली और पद्धति होती है जिसके द्वारा वह विज्ञान के गूढ़तम तथा सूक्ष्मतम तथ्यों को भी मूर्तरूप देने का प्रयत्न करता है। उसका

१—उ० उ०, तु० क० गो० ब्रा० १, ५, ८ आदि।

२—तस्माद् समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यः जायेते, श० ब्रा० १, ८, ३, ६ तु० क० गो० ब्रा० १, ५, ८ आदि।

३—तु० क० ऋ० वे० १०, ८०; भ० गी०, ११, और उ० उ० ४—ऊ० उ० १०

लक्ष्य यह रहता है कि वह ऐसे तथ्यों का अपने पाठकों को साक्षात्कार तथा प्रत्यक्ष अनुभव सुगमतापूर्वक करा सके जिनको वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा नहीं समझा जा सकता। इसलिये साहित्यिक वर्णनों तथा व्याख्याओं में उपमा, सादृश्य तथा शब्दचित्रों का बाहुल्य रहता है ; वैज्ञानिक दृष्टि से चाहे वे पूर्णतया थोथे तथातर्करहित हों ; परन्तु उनको व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। वे बिल्कुल वास्तविक और सत्य हैं। एक वैज्ञानिक की दृष्टि में कमल तथा नेत्र में सादृश्य देखना मूर्खता होगी ; परन्तु एक कवि सादृश्य को देखता है और जब वह उसे अपने काव्य में व्यक्त करता है, तो उसके द्वारा व्यक्त किये जाने वाले सत्य को समझने में कोई गलती नहीं करता।

वैदिक साहित्य में विश्व की सृष्टि के अनेक कवित्व-पूर्ण वर्णन मिलते हैं। जगत की सृष्टि को चमस-निर्माण के सदृश मानते हुये कवि आश्चर्य प्रकट करता[१] है कि "वह कौन सा काष्ठ है; अथवा कौन सा वृक्ष है जिसमें से द्यावा पृथिवी का निर्माण हुआ ?" नार्वेजियन तथा अवेस्तिक परम्परा[२] की भाँति वेद में भी प्रायः एक संसार वृक्ष[3] का उल्लेख मिलता है, जिससे प्रतीत होता कि सृष्टि-क्रिया को वृक्ष-प्ररोहन के समान समझा जाता है अर्थात् जिस प्रकार एक छोटे से बीज से अंकुर निकल कर एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार विश्व का भी एक सूक्ष्म से विराट नाम रूप हो जाता है। कभी-कभी विश्व-सृष्टि को गृह-निर्माण के रूपक[४] द्वारा भी व्यक्त किया जाता है और इस प्रसंग में नापना, स्थान को पवित्र करना, छत बनाना, गृह की दृढ़ता का ध्यान रखना तथा उसमें अग्नि का प्रवेश कराना आदि साधारण गृह-निर्माण की सारी क्रियायें विश्व-गृह-निर्माण में आरोपित की जाती हैं[५]।

एक अत्यन्त प्रचलित रूपक, जिसके द्वारा प्रायः सारे आर्यपुराणों में सृष्टि का वर्णन किया जाता है, यह है कि विश्व-सृष्टि को देवों तथा असुरों जैसी दो

१—ऋ० वे० १०, ३१, तु० क० ८, ८१, ४, १०, २८८ आदि।

२—Thorpe; N. M. pp. 5 ff. H. A. G. M. N. pp. 12, 14,13-33,146-120: Cox; M. A. pp. 331-2; Cornoy I. M. Fatahsingh; Poona Orientalist V. I, I.

३—ऋ० वे० १, २४, ७; १, १६१,'; १०, १३५ तु० क० अ० वे०, ८०, ७, ३८; Wallis; C. R. V. P. 15. ff

४—Wallis; C. R. V. pp. 16. 36. ५—वही।

विरोधी शक्तियों के संघर्ष का परिणाम समझा जाता है। भारोपीय परम्परा में इस प्रकार का एक संघर्ष विश्व-वृक्ष के प्रसंग में भी आता है। नार्वेजियन अस-यग्ग-द्रसील[1] तथा ईरानी गवो करेन[2] तथा वैदिक सोमवृक्ष[3] का वर्णन ऊपर हो चुका है, जिसके अन्तर्गत इसी प्रकार के देवासुर संग्राम का उल्लेख आ चुका है। ऐसे ही संघर्ष का एक दूसरा उदाहरण प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध में देखा जा सकता है। वैदिक पुराण की साधारण दृष्टि से, वृत्र प्रकाश तथा 'आपः' को चुरा ले जाता है या आवृत कर लेता है, और जब इन्द्र अपने वज्र से उसके ऊपर आघात करता है, तो आपः, सूर्य तथा उषा की उससे मुक्ति हो जाती है[4]। दार्शनिक दृष्टि से वृत्र वाक् या माया की ही निष्क्रिय अवस्था है और इन्द्र उसी में से सूर्यादि को निकाल कर उसकी सृष्टि कर देता है[5]। अतः वृत्र-वध के बाद मुक्त होने वाले 'आपः' वही आप हैं जो सृष्टि के कारण बताये गये हैं[6]। जिस प्रकार वाक् या प्रकृति को शबली या विराज नामक विश्वरूप गाय कहा गया है,[7] उसी प्रकार वृत्र को भी विश्व-रूप नाम दिया गया है,[8] जिसको मार कर इन्द्र विश्वकर्मा या प्रजापति हो जाता है[9]। इसलिये इस कल्पना के अनुसार निष्क्रिय प्रकृति को वृत्र और सक्रिय प्रकृति (शक्ति) को वज्र माना गया है। अतः वृत्र-वध को प्रकृति-क्षोभ कहा जायेगा, जिसके परिणाम स्वरूप सृष्टि होती है।

१—दे० H. A. G; M, N. pp. 12,13,14,31,33,60,100,147, 160,185,331.

२—दे० Dr. Cornoy, Iranian Mythology; Myths of Creation- ३—दे० "सोम" उ० उ०।

४—ऋ० वे० १, १५१, ४; ५२, ८; २, १९, ३; ३, ३४, ८, ९; १, ३२, ४ आदि तु० क० Bergaine. L. Religion Vedique. 2,200, Max Muller, L. L. 476. ५—वही।

६—दे० 'वरुण और आपः' ऊपर।

७—ऋ० वे० ४, ३०, ८; ९, ५, १०; तै० ब्रा० १, ७, ६, ७; म० भा० १०२, ९, १०; ता० म० ब्रा० २१, ३, १-२ तु० क० एम० १, ५३।

८—ऐ० ब्रा० १, ७, २८; श०, ब्रा० १, २, ३, २; ५, ५४, ३; १, ६, ३, २; १, २, ३, २ आदि।

९—ऐ० ब्रा० ४, २२; तै० ब्रा० १, २, ३, ३ ऐ० ब्रा० ४, २२ तु० क० श० ब्रा० ७, ४, २, ५; ८, २, १, १०; ८, २, ३, १०; वा० सं० १३, १६।

इन्द्र-वृत्र आख्यान के अन्तर्गत आने वाली सृष्टि-प्रणाली इस देश में तथा अन्य देशों में विभिन्न रूपों में पाई जाती है। रामायण महाभारत तथा पुराणों में ऐसी अनेक कल्पनायें आती हैं, जिनमें कोई न कोई असुर सारे विश्व या पृथिवी को चुराकर ले जाता है और बाराह या विष्णु उसको मारकर पृथिवी-मुक्ति करके सृष्टि प्रारम्भ करते हैं[१]। नार्वेजियन पुराण में भी भारतीय परम्परा की ध्वनि एक कथा में मिलती है, जिसके अनुसार व्यूरी (Buri) राक्षस यमीर (Ymir) या (Aurglemir) आरग्लमीर[२] को मारकर इसके शरीर से सारे विश्व की सृष्टि करता है:—

" of Ymir's flesh,
was earth ereated,
of his blood the sea,
of his bones the hills,
of his hair Trees and plants,
of his skull the heavens.
And of his brows,
The Gentle powers.
Formed mid-gard for the sons of man,
Out of his brain,
The neavy clouds are,
All created "[३]

ईरान[४] में भी एक वृषभ को मारकर मित्र अंधकार-मय जगत को प्रकाशवान करता हुआ, उसके मांस, अस्थि, केश तथा शरीर के अन्य अंगों द्वारा सृष्टि करता है।

सृष्टि का यही वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ ऋग्वेद के पुरुष सूक्त[५] में भी मिलता है:—

१—Hopkins V. M. pp. तु० क० का सं० ७, १०।
२—Thorpe; N. M. 2-5.
३—H. A. Guerber: M. N. pp. 4-5.
४—दे० Dr. Cornoy: 'Primeaval Heroes' in I. M.
५—ऋ० वे० १०, ९०।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं-जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये ॥७॥
तस्मात्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानाराण्यान् ग्राम्याश्चये ॥८॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥
यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखामासीदबाहू राजन्यः ।
ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योअजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूर्मिदिशः श्रोत्रात् तथा लोकां अकल्पयन् ॥१४॥

इस सूक्त से स्पष्ट है कि नार्वे का यमीर-आख्यान वेद के पुरुष-यज्ञ से कितना मिलता-जुलता है। आकाश, पृथिवी आदि की सृष्टि दूसरे शब्दों में दोहराई गई प्रतीत होती है।

उक्त सादृश्य होते हुए भी वैदिक और नार्वेजियन सृष्टि-वर्णनों में पर्याप्त अन्तर है। जैसा पहिले कहा जा कुका है, जिस असुर के शरीर से सारे विश्व की सृष्टि हुई है, वह माया या प्रकृति है, जिसमें प्रलय के समय सारा विश्व लीन हो जाता है, और सृष्टि के समय जिसमें से वह फिर उत्पन्न होता है। परन्तु इस सूक्त में जिस पुरुष की आहुति दी जाती है, वह प्रकृति या माया नहीं है। वह तो पुरुष है ; यद्यपि, जैसा कि सूक्त से ही स्पष्ट है, वह परम-पुरुष नहीं, जो विराज[1] को जन्म देता है, वह तो अवर पुरुष है जो कि सारे विश्व में व्याप्त है और जिसका जन्म विराज से होता है :—

१—दे० पुरुष-सूक्त उ० उ०।

> तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
> स जातो अत्यरिच्यत् पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥
> यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
> वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥

प्रायः इस सूक्त में वर्णित दो पुरुषों को एक ही समझ लिया जाता है, परन्तु स्वयं सूक्त में ही पुरुष का एक तो वह रूप है, जो इस सारे नामरूपात्मक जगत में व्याप्त होते हुए भी उससे परे है और दूसरा वह रूप है, जो उसी पुरुष का एक पाद मात्र है, जो, चर-अचर, अन्नाद और अन्न अथवा 'अशनाशने' के रूप में व्यक्त होता है:—

> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
> स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥१॥
> पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
> उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥
> एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
> पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
> त्रिपादूर्ध्व उदैत पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
> ततो विष्वङ व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥

सृष्टि-क्रम का वर्णन करते हुए, इस सूक्त में कहा गया है कि पहले परम पुरुष से विराज उत्पन्न हुआ, जिसका होम हो जाने पर सारा नामरूपात्मक विश्व उत्पन्न हुआ। इससे स्पष्ट है कि पहला पुरुष शुद्ध अथवा निष्क्रिय है। विराज प्रकृति-पुरुष है और विराज से उत्पन्न होने वाला पुरुष प्रकृति से आवृत पुरुष है, जिसका यज्ञ में बलिदान हो जाने पर सारे विश्व की सृष्टि होती है। अतः असुररूपक तथा पुरुष-रूपक द्वारा वर्णित सृष्टियों में प्रमुख भेद यह है कि पहले में सृष्टि देवों के द्वारा प्रकृति में से होती है, जबकि दूसरे में सृष्टि का विकास प्रकृति द्वारा आच्छन्न पुरुष से होता है।

सृष्टि-वर्णन की एक शैली प्रजनन के रूपक द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति को व्यक्त करती है। मनोविज्ञान की एक साधारण बात है कि मनुष्य के प्रत्यय उसकी अपनी अनुभूति के अनुसार होते हैं। अतः जब वह प्रकृति की गति-विधि का वर्णन करने लगता है, तो उसे पशुप्रतीक-वाद (Theriomorphism) तथा मानव-प्रतीक-वाद (Anthropomorphism) की शरण लेनी पड़ती

है। आकाश और पृथिवी में जनक-जननी की कल्पना अनेक जातियों[1] के पुराण शास्त्र में मिलती है। इस कल्पना का आधार कदाचित् यह है कि सूर्य, चन्द्र, उषा, विद्युत्, वर्षा आदि को मानव-प्रतीक-वाद के अनुसार किन्हीं माता-पिताओं की सन्तान समझा गया और ये माता-पिता आकाश और पृथिवी ही हो सकते थे। ऋग्वेद में जैसा कि तीसरे प्रकरण में देख चुके हैं, द्यावापृथिवी न केवल देवताओं के माता-पिता हैं, अपितु सारे विश्व के जन्मदाता हैं। कई सूक्तों में, वैलिस आदि विद्वानों के मतानुसार, इस दो दम्पति का पारस्परिक आलिंगन[2], गर्भाधान, गर्भ-विकास आदि का पूर्ण वर्णन मिलता है[3]।

पितृद्वय की यही कल्पना सूक्ष्म दार्शनिक सृष्टि-क्रिया में भी देखी जा सकती है। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि सृष्टि के दो मूल-तत्त्व पुरुष और प्रकृति को क्रमशः पिता और माता माना जाता है[4]। प्रकृति-रूप में विराज पुरुष की पत्नी है,[5] यद्यपि विराज शब्द का प्रयोग मायाच्छन्न पुरुष के लिये भी होता है, जिसकी आहुति दिये जाने पर सारे विश्व की उत्पत्ति होती है[6]। इस प्रसंग में पुरुष की शक्ति उसका रेतस् कही जाती है, 'जिसके द्वारा प्रकृति में गर्भाधान किया जाता है। अतः शक्ति द्वारा उत्पन्न क्षोभ ही गर्भाधान है।

(ख) **प्रजनन**—पशु प्रतीक-वाद के अनुसार विराज-वाक् को एक स्तनवती गाय[7] माना गया है और उससे सारी सृष्टि उत्पन्न होती हुई मानी जाती है। अथर्ववेद एक स्थान पर सृष्टि का वर्णन प्रजनन के रूपक द्वारा करता है और उस वर्णन के अन्तर्गत अन्य कई रूपक भी सृष्टि की दूसरी उपक्रियाओं को वर्णन

१—**देखिये** Tylor: Primitive Cultuer, London, 1871,1,290 ff; Frazerd Golden Bough; Scrader, E. R. E. Aryan Religion; Bradket Dyaus and Asura 1, 1 10 ff .

२—Wallis; Cosmology of Rigveda, pp. 3-15.

३—वही। ४—दे० ऊपर।

५—गो० ब्रा० २, २, ९; श० ब्रा० १४; ६, ११, ३; तै० ब्रा० १, २, २, २७; श० ब्रा० १, ३, २, २७ तु० क० १, १, १०, ६ बृ० उ० ४, २, ३; Muir O, S. T. Vol V. p. 369.

६—ऋ० वे० १०, ९०, ५; गो० ब्रा० १, ५, ८।

७—ता० म० ब्रा० २०, १, ५।

करने के लिये आते हैं[१]। निम्नलिखित[२] में सभी प्रक्रियाओं को संक्षेप में दे दिया गया है:—

को विराजो मिथुनत्वं प्रवेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याह् कतिधा
विदुग्धा को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ।

इस मंत्र के अनुसार सृष्टि की पांच प्रक्रियाएं प्रतीत होती हैं—पहली मिथुनत्व प्रक्रिया, दूसरी ऋतु-प्रक्रिया, तीसरी कल्प-प्रक्रिया चौथी दोहन-प्रक्रिया, और पांचवी, व्युष्टि-प्रक्रिया । इन सबका पृथक पृथक विवेचन करना आवश्यक है ।

मिथुनत्व-प्रक्रिया

हम ऊपर देख चुके हैं कि विराज की अव्याकृत अवस्था को सलिल सरिर, सर, सर्व या आपः कहा जाता है[४] । यह वास्तव में शक्ति द्वारा क्षुब्ध प्रकृति की अवस्था है, जो सक्रिय होकर प्रकृति और पुरुष के रूप में व्याकृत होने को उद्यत है । विराज जब व्याकृत होती है, तो उसको दो भागों में विभक्त हुआ माना जाता है और इन दोनों को विराज गाय के बछड़े माना जाता है, जो कि विराज की सलिलावस्था से उत्पन्न होते हैं । इन दोनों की उत्पत्ति एक रहस्य समझी जाती है और उसके विषय में पूछा जाता है, "यह दोनों कहाँ से उत्पन्न हुये, और इनमें पुरुष कौन है ? विश्व की उत्पत्ति कहाँ से हुई और कहां से पृथ्वी आई ?[५]

इसका उत्तर होता है कि:—

"सलिल से विराज के दो बछड़ों की उत्पत्ति हुई"[६] ।

विराज के इन दोनों बच्चों का नाम वृहस्पति (ब्रह्म) और वृहती (माया) अथवा प्राण और वाक् रखा गया है[६] । ब्रह्म और वृहती की चार सन्तानें होती हैं, जिनमें से हर एक को वृहत कहा जाता है ;[७] और चतुर्थ वृहत शेष तीन

१—अ० वे० ८, ९, १०-११ । २—अ० वे० ८, ९, १० ।
३—देखिये 'पुरुष और प्रकृति' ऊपर । ४—दे० 'वरुण और आपः' ।
५—अ० वे० ८, ९, १ तु० क० Whitney. n. 504, Ludwig, p. 439; Henry, 26 65; Griffith, 1,416; Muir V. 376.
६—अ० वे० ८, ९, २ ।
७—अ० वे० ८, ९, २-३, १ तु० क० विराजमाहु ब्रह्मणः पितरम् । वाचं धेनुमुपासीत, तस्याः प्राण वृषभः श० ब्रा० १४, ८, ९, १ ।

की वाक् को मिलाने वाला कहा जाता है ।[1] अथर्ववेद के एक सूक्त में इसका निम्नलिखित वर्णन आया है:—

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।
वत्सः कामदुधो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ।
यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम् ।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकं ।

पहिले पुरुष सलिल में त्रिभुजाकार योनि बनाकर सोया हुआ है ; वह क्रन्दन करता है और अपनी महिमा से सलिल को शब्दायमान करता है । तब पुरुष रूपी वत्स प्रकृति-रूपी[2] वत्सा से अपने अंगों को 'गुहा' में कर लेता है । इसके फलस्वरूप जो तीन बृहत्[3] उत्पन्न होते हैं, उनकी वाक् को मिलाने वाला एक चौथा बृहत भी है, जिसको भी बृहती से निर्मित (बृहत् बृहत्या निर्मितं) कहा गया है । उक्त सूक्त स्वयं इस रूपक की व्याख्या करता है और आलंकारिक आवरण को दूर करके बतलाता है कि पुरुष वत्स वास्तव में ब्रह्म है, जिसको विपश्चित लोग तप द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, और उसकी स्त्री बृहती है, जिसको मात्रा से उत्पन्न मात्रा, माया से निर्मित माया या माया से बनी हुई मातली कहा गया है ।

बृहती परिमात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥

अतः विराज के दो बच्चे स्पष्टतः ब्रह्म और बृहती हैं, जो साधारणतया वेदान्तिक ब्रह्म या माया के समकक्ष हैं ।

इन दोनों की संतान बृहतों के विषय में ध्यान रखने की बात यह है कि वे शक्ति द्वारा क्षुब्ध प्रकृति अथवा सक्रिय सलिल[4] से उत्पन्न होते हैं; शक्ति क्षोभन को ही तप या अर्चन भी कहा गया है । छांदोग्य उपनिषद्[5] के अनुसार प्रजापति भी लोकों को तप्त करता है और उनसे तीन बृहतों को उत्पन्न करता है (अबृहत्), जिनका नाम अग्नि, वायु और आदित्य है और जो क्रमशः पृथिवी,

---

१—अ० वे० स्था० उ० मै० सं० में भी यही प्रसंग आया है, जहाँ चारों संतानों को 'बृहत्' कहा गया है ।

२—देखिये, अनु० और साम-सृष्टि । ३—वही । ४—ऊ० उ० ।

५—प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां रसान् प्राबृहत—अग्निं पृथिव्याः; वायुमन्तरिक्षात्, आदित्य दिवः (छा० उ० ४, १७, १)

अन्तरिक्ष और द्यौ के रस कहे गये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद[1] के अनुसार उसी तप के द्वारा अग्नि अपने को आदित्य, वायु तथा प्राण रूप में विभक्त कर लेता है:—

तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निर्वर्त्ततानिः।
स त्रेधात्मानं व्याकुरतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधाविहितः।

उक्त दोनों उपनिषदों के वर्णनों की तुलना करने से तथा बृहदारण्यक उपनिषद के स्पष्ट उल्लेख से (स एषप्राणस्त्रेधाविहितः) यह निष्कर्ष निकलता है कि तीनों लोकों के सार-रूप आदित्य, वायु तथा अग्नि (प्राण) को एक ही तेजस् से उद्भूत माना जाता है और वह तेजस अग्नि या प्राण है, जो तप के पश्चात् ब्रह्म से उत्पन्न होता है। अतः यही तेजस् (अग्नि या प्राण) अन्य तीन बृहतों का एकीभूत रूप होने से अन्य तीनों की वाक् को मिलाने वाला कहा जा सकता है। उपनिषद् के उक्त चार बृहत[2] ही अथर्ववेद के बृहत हैं, जो इसी प्रकार एक दृष्टि से तीन तथा दूसरी दृष्टि से चार कहे जा सकते हैं।

अब विचारणीय यह है कि तीन बृहतों की वाक् को मिलाने वाला अग्नि या प्राण कौन सा है। बृहदारण्यक उपनिषद[3] में लिखा है कि विश्व की मृत्यु अथवा प्रलय के पश्चात् अर्चन के द्वारा[4] आपः या अर्क उत्पन्न होता है। अर्क से पृथ्वी और पृथ्वी से अग्नि नाम का तेजस् उत्पन्न होता है, जो आदित्य वायु और प्राण में अपने को व्याकृत कर लेता है। अतः तेजस् या चित्-शक्ति का साधारण रूप होने से, अग्नि या प्राण को चित् का ही एक रूप समझा जा सकता है। इसीलिये अरुन्धती-दर्शनन्याय द्वारा परब्रह्म की शिक्षा देते हुये, चक्षु के तेजस् से प्रारंभ करके आदित्य के तेजस् की ओर संकेत किया जाता है और उसके द्वारा परम तेजस् का ज्ञान कराया जाता है; अथवा आंगिरस प्राण से प्रारंभ करके दुः, दुः से अग्नि, अग्नि से वायु, वायु से आदित्य, आदित्य से दिशा, दिशा से चन्द्रमा और चन्द्रमा से अन्नाद तथा महाप्राण का ज्ञान कराया जाता है, जो

१—१, २, ३। २—ऊ० उ०। ३—१, २, १।

४—सोऽर्चन्त तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्समहन्यत्। स पृथिव्यभवत् तस्यमश्राम्मतस्य श्रान्तस्य तप्तस्य ते जो रसोनिवर्त्ततानिः। स त्रेधात्मने व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहित (बृ० उ० १२, १, ३)

विराज शरीर का रस कहा जाता है[1] और बृहस्पति[2] और ब्रह्मणस्पति[3] के साथ समीकृत किया जाता है। अतएव वह अग्नि तेजस्, जो त्रिलोक के रस आदित्य, वायु अथवा अग्नि (प्राण) के रूप में विकसित होता है, वह उक्त बृहतों के जनक ब्रह्म का ही वह रूप है जो विराज का रस कहा जा सकता है[4]।

(ग) साम-सृष्टि—बृहत्‌की कल्पना के साथ ही साम-सृष्टि का भी सम्बन्ध है ; बृहती और ब्रह्म से जहाँ चार बृहतों की उत्पत्ति का उल्लेख आता है वहाँ साम-सृष्टि का वर्णन भी आता है। चार बृहतों के जनक-जननी को मिलाकर इस परिवार में छः हो जाते हैं ; अथर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्म (५वाँ) और बृहती (छठा)ने बृहतों या बृहत् को केन्द्र मानकर सामों की सृष्टि की:—

बृहतः परिसामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद्-बृहत्या निर्मितं कुतोधि बृहती निर्मिता ।
(अ० वे० ८, ९, ४)

इसी प्रकार के उल्लेख ब्राह्मणों और उपनिषदों के अनेक स्थलों पर मिलते हैं ।[5]

परन्तु इन प्रसंगों में साम का साधारण अर्थ नहीं लिया जा सकता। सामों का ब्रह्म-बृहती[6] से उत्पन्न होना ही यह सिद्ध करता है कि बृहतों की भाँति साम भी तेजस् का विकसित रूप है ; इसीलिये सारे तेजस् को साम कहा गया है[7] और साम की उत्पत्ति सूर्य से बतलाई जाती है।[8] वह आदित्य की अर्चि

१—बृ० उ० १, २, १-१९ । २—एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्याएषपतिस्तस्माद्ु बृहस्पतिः (बृ० उ० १, २, २०)

३—एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्याएषपतिस्तस्माद्ु ब्रह्मणस्पतिः (बृ० उ० १, २, २१) ४—उ० उ० ।

५—ता० मं० ब्रा० ७, ३, १६; १९, १२, ८ छा० उ० ४, १७, ६, बृ० उ० १, २, १-४; १, ३, २१-२२; ऐ० ब्रा० ३, २, ३; श० ब्रा० १४, ४, १, २४; गो० ब्रा० २, ३, २; जै० ३-४, २३, ३; १, ५३, ५; गो० ब्रा० २, ३, २० ।

६—देखिये ऊपर "वाक् और वेद" तु० क० अ० वे० ३, ३ ।

७—सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् तै० ब्रा० ३, १२, ९, २)

८—सूर्यात्सामवेदः (श० ब्रा०); साम का सम्बन्ध आदित्य, सूर्य आदि समझने के लिये ऊपर आये हुये 'अदिति दिति तथा उनके पुत्र' नामक प्रकरण को भली भांति समझ लेना चाहिये ।

है[१] और आदित्य को सामों का देवता तथा परम ज्योति कहा गया है।[२] यही साम, जिसको बृहत् का केन्द्र मानकर उत्पन्न किया हुआ बताया जाता है और जो बृहत्[३] में (और इसीलिये अन्त में बृहती[४] में) लीन होते हुये बतलाये जाते हैं[५], कभी-कभी आदित्य[६], वायु[७] तथा प्राण से पृथक-पृथक समीकृत भी किये जाते हैं। अतः इस विषय में भ्रम उत्पन्न होने की आशंका है। परन्तु वैदिक ग्रन्थों की यह साधारण बात है कि वे कार्य और कारण में कोई भेद नहीं मानते। इसलिये प्राण अथवा अग्नि नामक प्रधान बृहत् को उससे उत्पन्न आदित्य, वायु आदि से भी समीकृत किया जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम उन तीन विद्याओं में से एक है जो तीनों बृहतों से विकसित होती है :—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानां रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायु-मन्तारिक्षादादित्यं दिवः ॥ सा एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानां रसान्प्रबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ॥ सा एतां त्रयीं विद्यामभ्य-तपत्त-स्यास्तप्यमानानांरसान् प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥

जै० उ० ब्रा० इसी बात की पुष्टि करते हुये[८] अग्नि, वायु और आदित्य को क्रमशः तीन विद्याओं का रस बतलाता है:—

सः (प्रजापतिः) भूरित्येवऋग्वेदस्य रसमादत्त। सेयं पृथिव्यभवत्। तस्य यो रसः प्राणोदत्त सोऽग्निरभवद्रसस्य रसः। भुवः इत्येव यजुर्वेदस्य रसमादत्त। तदिदमन्तरिक्षमभवत्। तस्या यो रस प्राणोदत् स वायुरभवद्रसस्य रसः स्वरित्येव

१—**आदित्यस्य अर्चिः सामानि (श० ब्रा० १०, ५, १, ५)**

२—**साम्नामादित्यो देवता तदेव ज्योतिः (गो० ब्रा० १, १, २०)**

३—**अन्तो बृहत् साम्नाम् (तै० ब्रा० ८, १९, १२, ६) (५) बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति (ता० म० ब्रा० ७, ३, १६)**

४—**तद्यदेष सर्वैं लोकैस्समस्तस्मादेष आदित्यः साम जै० उ० ब्रा० १, १२, ५; ष० वि० ब्रा० १, ५; श० ब्रा० १०, ५, १, ५; आदि)**

५—**तस्माद् वायुरेव साम जै० उप० ब्रा० ३, १, १२,**

६—**प्राणा वै सामानि ९, १, २, ३२ स यः प्राणस्तस्साम जै० उ० ब्रा० १, २५, १०; २, ५, १, १८; १, ३९, ४, ७—४, १७, १-३।**

८—**१, १, ३-६ तु० क० ष० ब्रा० १, ३, ६,**

सामवेदस्य रसमादत्त। सोऽसौ द्यौरभवत्। तस्य यो रसः प्राणेदत् स आदित्योऽभवद्रसस्य रसः।

इन तीन विद्याओं में से साम तेज का विकसित रूप है और तेज की भाँति इसके चारों ओर भी सृष्टि का जाल बिछा हुआ है। इसी रूप में साम के दो भाग, पुरुष और स्त्री कहे जाते हैं जिनका नाम क्रमशः साम और ऋक् बतलाया जाता है। यह दोनों मिलकर एक इकाई हैं, जिसको भी साम कहा जाता है[1]। अतः साम को ऋक् का पति[2] तथा मूल[3] कहा जाता है और दोनों एक दूसरे से अभिन्न कहे जाते हैं। साम के इन्हीं दो तत्त्वों को मन और प्राण कहा जाता है, जो क्रमशः सत् और असत् के रस है।[4] इसी कारण प्राण को साम तथा उसके दो तत्त्वों को साम और ऋक् अथवा प्राण और वायु कहा जाता है;[5] और साम और ऋक् क्रमशः प्रा और वाक् ही हैं। (जै० उ० ब्रा० १,९,२,४; २३,४,१,२५; ८ श० ब्रा० ४,६,७,५; कौ० ब्रा० ७,४०) समष्टि रूप में सारे भूतों में जो एक प्राण है, उसका नाम साम है[6] और व्यष्टि-रूप में प्रत्येक भूत का एक प्राण होने से विश्व में अनेक प्राण हैं।[7] उनको भी साम कहा जाता है। साम और प्राण में कोई भेद न होने से साम के मूलतत्त्व साम तथा ऋक् वही हैं जो कि प्राण के मूलतत्त्व वाक् और ऋक् हैं।[8] अतः प्राण की भाँति साम का समीकरण भी वाक् के साथ उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार ऋक् के साथ।[9]

१—ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्तां। सा एव नाम ऋक् आसीद् अमो नाम साम (ऐ० ब्रा० ३, २३, गो० ब्रा० २, ३, १०; ता० म० ब्रा० ४, ३, ५)

२—साम वा ऋचः पतिः (श० ब्रा० ८, १, ३, ५; ८, १, ३, ३)

३—जै० उ० ब्रा० १, १२, ९; ४, २४, १२ तु० क० ऐ० ब्रा० २, २४, तै० ब्रा० १, ६, ३, ९, श० ब्रा० ४, ४, ३, ६; ९, ४, १, १२।

४—तयोः (सदसतोः) यत् सत् तत्साम; तन्मनस्स प्राणः, जै० उ० ब्रा० १, ५३, २। ५—श० ब्रा० १४, ४, १, २४; जै० उ० ब्रा० ४, २३, ३, तु० क० ऐ० ब्रा० ३, २५।

६—श० ब्रा० १४, ६, १४, ३; १४, ४, ३, १२ जै० उ० ब्रा० १, २५, १०; ३, १, १८; १, ३९, ४। ७—श० ब्रा० ९, १, २, ३२; १४, ८, १४, ३; १४, ४, १, २४। ८—ऊ० उ०।

९—श० ब्रा० १४, ४, ४, १, जै० उ० ब्रा० १, ४०, ६, २, १५, ४; श० ब्रा० ४, ६, ७, ५; ६, ७, १, ७; जै० उ० १, ५९, ४; २४, १२, १४।

वाक् या ऋक् साम की प्रतिष्ठा है और उसके अस्तित्व का प्रमाण है।[1] अदृश्य शक्तिमान् का ज्ञान उसकी शक्ति के विना नहीं हो सकता; आत्मा का ज्ञान उसकी शक्ति से ही होता है, जो उसमें रहती है और जिसके द्वारा वह प्रकृति को क्षुब्ध करता है।

अतः संक्षेप में मिथुनत्व-प्रक्रिया के विषय में यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और बृहती से एक महा बृहत् उत्पन्न होता है जो मायाच्छन्न पुरुष होता है और जिसको अग्नि या प्राण कहा जा सकता है ; इसी महाबृहत के तीन भाग आदित्य, वायु तथा प्राण या अग्नि हो जाते हैं, जिनको भी बृहत् कहा जाता है और जो क्रमशः द्यु लोक, अन्तरिक्ष लोक तथा पृथिवी लोक के प्राण अथवा अग्नि के सामूहिक अग्नि के सामूहिक रूप कहे जाते हैं। जो साम बृहत् को केन्द्र मानकर सृष्ट हुये कहे जाते हैं, वे तीनों लोकों के भूतों के व्यष्टि-गत प्राण या अग्नि हैं, जिनको समष्टि रूप में एक प्राण तथा व्यष्टि रूप में अनेक प्राण या अग्नि कहा जा सकता है। व्यष्टि और समष्टि रूपों में साम को एक दृष्टिकोण से अव्याकृत शक्तिमान्-शक्ति तथा दूसरे दृष्टिकोण से व्याकृत शक्तिमान् और शक्ति (अर्थात् प्राण और वाक् या साम और ऋक्) कह सकते हैं।

२—व्युष्टि-प्रक्रिया

अशुद्ध और शुद्ध सृष्टि

(क) **अर्क**—बृहदारण्यक उपनिषद दो प्रकार की सृष्टियों का वर्णन करती है जिनमें से पहिले का वर्णन इस प्रकार है:—

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मेकमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् कँ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥१॥ आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्याश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततताग्निः ॥२॥
स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयं स एष प्राणस्त्रेधा विहितः तस्य प्राचीदिक्छिरोऽसौ चासौ चेमौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ

१—जै० उ० ब्रा० १, ३९, ३; १, ९, २; ४, २३, ४; १, २५, ८; श० ब्रा० ४, ६, ७, ५; कौ० ब्रा० ७, १०।

दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतिष्ठित्येवं विद्वान् ।।३।।

संक्षेप में इस उद्धरण के अनुसार प्रारम्भ में सारी सृष्टि मृत्यु अथवा प्रलय की अवस्था में थी, जिसमें आत्मा नहीं था ; अतः उसने इच्छा की कि मैं आत्मन्वयी हो जाऊँ ; इस इच्छा के होते ही अर्चन द्वारा अर्क हुआ और अर्क से तीन तत्त्व उत्पन्न हुए, जिनमें से तेज का रस अग्नि, आदित्य वायु और प्राण रूप में विभक्त हो गया, जिनको ऊपर बृहत् कहा जा चुका है; [1] इन्हीं के साथ साथ दिशाओं की भी उत्पत्ति हुई है।

इस सृष्टि के पश्चात् होने वाली एक दूसरी सृष्टि और है, जिसका वर्णन निम्नलिखित प्रकार से बृहदारण्यक उपनिषद में उसी के आगे मिलता है।

सोऽकामयत् द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनं समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत् । न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः । यावांसंवत्सरस्तमेतावतः कालाय परस्तादसृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ।।४।। स ऐक्षत यदि वा इममभि मस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून् ।

इससे यह प्रकट है कि इस सृष्टि का प्रारम्भ सम्वत्सर से हुआ। संवत्सर स्वयं आत्मा और वाक् के संयोग से उत्पन्न होता है और फिर अपने में से एक वाक् उत्पन्न करता है; इसी वाक् के द्वारा वह सारी सृष्टि (ऋक्, यजु, साम, छन्द, यज्ञ प्रजा और पशु) उत्पन्न करता है, जिसमें कि उपर्युक्त साम-सृष्टि भी सम्मिलित रहती है, परन्तु इस सृष्टि को अशुद्ध प्रकृति या कनीयस अन्नम् कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि कोई शुद्ध प्रकृति यः ज्येष्ठ अन्न भी होगी। इसे कनीयस-अन्नम् कहना ठीक ही मालूम पड़ता है, क्योंकि इस सृष्टि को नश्वर और संवत्सर का भोजन कहा गया है, जब कि इससे पहिले की आर्क-सृष्टि को इस अवस्था से परे बतलाया गया है:—

स यद्यदेवासृजत् तत्तदत्तुमध्रियतसर्वं वा अत्तीति ।
तददितेरदितित्वं सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति ।।

इसी अर्थ में साम को व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों[2] में अन्न अथवा

१—दे० उ० उ०। २—उ० उ०

देवताओं का भोजन या आहुति कहा गया है।[1] इसी 'कनीयस् अन्न' की सृष्टि के सम्बन्ध में व्युष्टि-प्रक्रिया का उल्लेख मिलता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह सृष्टि संवत्सर और वाक् द्वारा उत्पन्न होती हैं, व्युष्टि-प्रक्रिया के अनुसार भी संवत्सर, जिसको कि कभी-कभी सूर्य या अहम् भी कहा जाता है, रात्रि या एकाष्टक नाम की वाक् से युक्त रहता है जो उसकी पत्नी या प्रतिमा कही जाती है। व्युष्टि-प्रक्रिया के वर्णन से पहले संवत्सर और उसकी प्रतिमा का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

(ख) संवत्सर और उसकी प्रतिमा—संवत्सर का सब से अधिक प्रचलित अर्थ 'वर्ष' है। साधारणतया इसमें तीन सौ साठ दिन चौबीस अर्द्धमास, बारह मास, और छः ऋतुएँ होती हैं;[2] कभी-कभी तेरह मास, छब्बीस अर्द्धमास और सात ऋतुओं का भी उल्लेख मिलता है।[3] व्युष्टि-प्रक्रिया से जिस सम्वत्सर का सम्बन्ध है, वह वर्ष नहीं; वह तो उसी के आधार पर बना हुआ एक पारिभाषिक शब्द है। सम्वत्सर एक आत्मा है,[4] वह स्रष्टा और प्रजापति[5] है और साथ ही उसका सम्बन्ध महीनों और ऋतुओं आदि के कालांशों से भी है।[6]

१—तस्मादाहुः सामैवान्नमिति, सा० वि० १, १, ३; साम देवानामन्नम् ता० म० ब्रा० ६, ४, १३; सोमाहुतयो ह वाऽएता देवानां यत्सामानि श० ब्रा० ११, ५, ६, ६, सोऽब्रवीदेक वावेदमन्नाद्यमसृक्षि सामैव, जै० उ० ब्रा० १, ११, ३। २—कौ० ब्रा० ११, ७ आदि।

३—श० ब्रा० ८, ४, १, २२; ८, ४, १, १९; ऐ० ब्रा० ८, ४, ता० म० ब्रा० ४, १०, ५, श० ब्रा० ८, ४, १, १७; ८, ४, १, १४, ८, ४, १, १३; १, २, ५, १२ आदि।

४—श० ब्रा० ८, ४, १, १७; ८, ४, १, २५; ३, ६, ४, २४; कौ० ब्रा० १९, २, ५, ८ आदि।

५—ऐ० ब्रा० १, १; १३, २८; २, १७; श० ब्रा० २, ३, ३, १८; ३, २, २, ४; ५, १, २, ९; तै० ब्रा० १, ४, १०, १०; गो० ब्रा० २, ३, ८; तां० म० ब्रा० १, ६, ४, १२; ऐ० ब्रा० ४, २५; कौ० ब्रा० ६, १५; ता० म० ब्रा० १०, ३, ६।

६—स (संवत्सरः) एव प्रजापतिस्तस्य मासा एव सहदीक्षिणः, ता० म० ब्रा० १०, ३, ६ स एष संवत्सर प्रजापति षोडशकलः, श० ब्रा० १४, ४, ३, ३२, ऐ० ब्रा० १, १; श० ब्रां० १, ६, ३, ३५।

सम्वत्सर की कल्पना का आधार कदाचित् यह है विश्व में जिस किसी की भी सृष्टि या व्युष्टि होती है वह वर्ष अथवा काल के अन्तर्गत होती है।[१] सृष्टि के अतिरिक्त पालन और प्रलय का सम्बन्ध भी संवत्सर से बतलाया गया। वह सभी जीवों का पालक और पोषक है।[२] उसका नाम मृत्यु भी है, क्योंकि वह सभी भूतों के जीवन को क्षीण करता है और उनका अंत करता है ; तथा अहोरात्र के द्वारा सभी जीव अन्त में संवत्सर में ही विश्राम पाते हैं।[३] अतः उसको विवर्त भी कहा जाता है, जिसके भीतर सारे जीव विवर्तन (चक्कर) करते रहते हैं।[४] सम्वत्सर का नाम सरावत्सर भी है जिसके अन्तर्गत सृष्टि की सारी वस्तुएं आ जाती हैं।[५]

अतः सम्वत्सर अथवा सरावत्सर प्रजापति को काल के अन्तर्गत होने वाली सारी सृष्टि का नियन्त्रण करने वाला कालात्मा कह सकते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसका चित्रण अनेक प्रकार से किया गया है। सम्वत्सर को ऋतु-धेनुओं का वृषभ कहा गया है।[६] कभी-कभी विभिन्न ऋतुओं को सम्वत्सर के शिर, पुच्छ आदि अनेक अंग भी बतलाया जाता है;[७] सूर्य सम्वत्सर की आत्मा है।[८] पुरुष रूप में कल्पना करने पर पर्व, अहोरात्र-संधि, पूर्णमासी और अमावस्या उसके चार मुख बतलाये गये हैं ; (स वै सम्वत्सरऽएवै प्रजापतिस्तस्यैतानि पर्वाण्यहोरात्रे यो सन्धी पौर्णमासी चामावस्या चतुर्मुखानि) ; महीने और ऋतुएँ सम्वत्सर-पुरुष के भी भिन्न अंग कहे गये हैं और उत्तरायण तथा दक्षिणायण[९] (उसके दो

१—ता० म० ब्रा० १०, १, ९; गो० ब्रा० १, २, १५ कौ० ब्रा० १९, ९ ऐ०, ब्रा० ४, १४; तै० ब्रा० ३, ११, १०, ४; श० ब्रा० १, ६, ३, ३५।

२—श० ब्रा० ८, ४, १, १७ तु० क० वा० सं० १, ४, २३; श० ब्रा० ६, १, ३, ८।

३—एष वै मृत्युसंवत्सरः एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोति, श० ब्रा० १०, ४, ३, १।

४—श० ब्रा० ८, ४, १, २५; वा० सं० १४, १५।

५—श० ब्रा० ११, १, ६, १२।

६—तै० ब्रा० ३, ८३, ३।

७—तस्य वसन्त ऋतुमुखं ग्रीष्मश्च वर्षा च पक्षौ शरन्मध्यं हेमन्तः पुच्छम् (ता० म० ब्रा० २१, १५, २; तै० ब्रा० ३, ११, १०, १-५; गो० ब्रा० १, १७-१९।

८—आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद्विषुवान् (तां० म० ब्रा० ४, ७, १ श० ब्रा० १२, २, ३, ६-७ गो० ब्रा० १, ४, १८ आदि)

श० ब्रा० १, ६, ३, ३५; १२, २, ३, ७।

पार्श्व कहे जाते हैं। यद्यपि इस वर्णन में सम्वत्सर की कल्पना के अन्तर्गत वर्ष का चित्र भी विद्यमान है, परन्तु संवत्सर वर्ष ही नहीं है, वह तो सूक्ष्म कालात्मा है; यह वही आत्मा है जो हमारे अन्दर है और जिसको प्राण[1], अग्नि[2], आदित्य[3], पुरुष[4] आदि अनेक ऐसे नाम लिये गये हैं,जो आत्मा को उसके विभिन्न रूपों में दिये जाते हैं।[5]

संवत्सर का एक दूसरा सार्थक नाम तप भी है:—

संवत्सरो वाव तपोनवदशः। तस्य द्वादशमासाः षड्ऋतवः संवत्सर एवं तपोनवदाशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति। (श० ब्रा० ८, ४, १४)

सम्वत्सर के तप नाम का आधार स्पष्टतया यह है कि हम काल या वर्ष की कल्पना सूर्य के बिना नहीं कर सकते। यही कारण है कि सूर्य को संवत्सर की आत्मा कहा गया है और आदित्य सूर्य और अग्नि वैश्वानर[6] को उसके साथ समीकृत किया गया है। सूर्य के साथ संवत्सर का समीकरण और समानता होने के पश्चात् उसके कालात्मा रूप में भी जो कि सौर वर्ष के आधार पर ही कल्पित किया है, सूर्य के प्रमुख तत्त्व प्रकाश और तप अथवा तेजस की कल्पना भी आवश्यक हो जाती है। अतः सम्वत्सर या तप के तेज का प्रायः उल्लेख मिलता है[7] सम्वत्सर के स्वर्ग के वर्णन में भी वर्ष का चित्र मिलता है।[8] (तस्य वसन्त एव द्वारं हेमन्ती द्वारं तम वा एतम् सम्वत्सरं स्वर्ग लोकं प्रपद्यते श ब्रा० १६, १९) संवत्सर के स्वर्ग को षट्त्रिंश वाक् भी कहा जाता है, जिसमें पहुँच जाने पर कोई भी दुःख नहीं रहता:—

१—श० ब्रा० १२, २, ३, ६, गो० ब्रा० ४, १८; तां० म० ब्रा० ४, ७, १ अनु०।

२—तां० म० ब्रा० ५, १०, ३; १७, १३, १७; तै० ब्रा० १, १४, १०, १; श०, ब्रा० ६, ३, १, २५; ६, ३, २, १०, ६, ६, १, ४।

३—श० ब्रा० १०, २, ४, ३; १४, १, १, ७।

४—श० ब्रा० १२, २४, १, १; गो० ब्रा० १, ५; ३, ५।

५—श० ब्रा० ८, ४, १, १४, और दे० आगे। ६—दे० 'अग्नि' ऊपर।

७—अ० वे० ३, ५, ८; ५, २८, १३; तै० २, १५, १, ५।

८—श० ब्रा० ८, ४, १, २४; ८६, १, ४; ६७, ४, ११ तां० म० ब्रा० १८, २, ४; तै० ब्रा० २, २, ३, ६; ३, ९, २, २।

संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासा द्वादशमासास्तद्य-त्समाहा नाक इति न हि तत्र गताय कस्मैचाकं भवति। (श० ब्रा० ८, ४, १, २४)

सम्वत्सर का यह स्वर्ग मध्यवर्ती कहा जाता है, जिसका अभिप्राय यह है कि यह स्वर्ग आत्यन्तिक नहीं है , क्योंकि इस से परे और स्वर्ग भी हैं ।[1] सम्व-त्सर को एक ऋतु भी कहा गया है ; इस ऋतु में और अनेक ऋतुओं[2] में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि विभिन्न ऋतुएं जो तीन,[3] पाँच,[4] छ०[5] या सात[6] बतलाई जाती है, वे इसी के अंगमात्र हैं। उसी प्रकार बारह या तेरह महीने भी संवत्सर के अंग ही हैं ।[7] इन ऋतुओं और महीनों को विभिन्न प्रकार से मिलाकर संवत्सर के अनेक रूपों की कल्पना की गई है, जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :—

(१) षोडष सम्वत्सर प्रजापति—बारह महीने और चार ऋतुएं[8] ।

(२) सप्तदश संवत्सर प्रजापति—बारह महीने और पाँच ऋतुएं ।[9]

(३) सप्तदश धाम—बारह महीने और पाँच ऋतुएं[10]

(४) अष्टादश प्रवृति—तेरह महीने और पाँच ऋतुएं[11]

१—मध्ये ह संवत्सरस्य सुवर्गो लोकः (श० ब्रा० ६, ७, ४, ११)

२—अग्निष्टोम उक्थ्योऽग्निर्ऋतु प्रजापति इति...संवत्सरस्य नामधेयानि (तै० ब्रा० १०, १०, ४) ऋतवः संवत्सरः (तै० ब्रा० ३, ९; ९, १) । ऋतुओं के लिये दे० आगे ।

३—त्रयो वा ऋतवः संवत्सरस्य (श० ब्रा० ३, ४, ४, १७; ११; ५, ४, ११, तु० क० कौ० ब्रा० १९, ३)

४—पञ्चर्तवः संवत्सरः (श० ब्रा० १, ५, २, १०; ३, १, ४, २०)

५—षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य (श० ब्रा० १, २, ५, १२)

६—सप्तर्तवः संवत्सरः (श० ब्रा० ६, ६, १, १४; ७, ३, २, ९; ९, १, १, २६)

७—द्वादश ह वै. त्रयोदश वा. संवत्सरस्य महिमा (श० ब्रा० २, २, ३, २७; ५, ४, ५, २३; श० ब्रा० ३, ६, ४, २४; कौ० ब्रा० १९, २; ५, ८) ।

८—श० ब्रा० १४, ४, ३, २२ ।

९—ता० म० ब्रा० ६, २, २; श० ब्रा० ६, २, २, ८; १, ३, ५, १०; ऐ० ब्रा० १, १ ।

१०—ता० म० ब्रा० १०, १, ७ ।

११—श० ब्रा० ८, ४; १३ तु० क० वा० सं० १४, २३ ।

(५) एकोन्विशंति रूप—बारह महीने, छ ऋतु और संवसतर[१]
(६) विंशति वर्चः—बारह हीने सात ऋतुएं, दो दिन, आठ रातें, संवत्सर[२]
(७) त्रिविंशत सम्भरण—तेरह महीने, सात ऋतुएं, दो अहोरात्र और एक संवत्सर[३]
(८) चतुर्विंश संवत्सर—चौबीस अर्द्धमास[४]
(९) पञ्चविंश गर्भ—चौबीस अर्द्धमास और एक संवत्सर[५]
(१०) त्रयोत्रिंश प्रतिष्ठा—चौबीस अर्द्धमास छः ऋतुएँ, अहोरात्र, संवत्सर[६]
(११) ब्रह्मा का चत्वारिंविंश विष्टम्—चौबीस अर्द्ध मास, सात ऋतुएं अहोरात्र, संवत्सर[७]
(१२) अष्ट चत्वारिंश विवर्त्त—छब्बीस अर्द्धमास, तेरह मास, सात ऋतुएँ, अहोरात्र ।[८]
(१३) पञ्चार चक्र तथा उसके अन्तर्भूत जीव—पाँच ऋतुओं का संवत्सर ।[९]
(१४) पञ्चपाद तथा द्वादश मुक्त—पांच ऋतुएं और बारह महीनों का संवत्सर ।[१०]
(१५) सप्तारचक्र—सात ऋतुओं का संवत्सर ।[११]
(१६) षडार चक्र—छः ऋतुओं का संवत्सर ।[१२]
(१७) द्वादशार ऋतु चक्र—बारह महीनों का संवत्सर ।[१३]
(१८) अग्नि के सात सौ बीस पुत्र—तीन सौ साठ अहोरात्र ।[१४]

१—श० ब्रा० ८, ४, १, १४,
२—श० ब्रा० ८, ४, १, १६ ।
३—श० ब्रा० ८, ४, १, १७, तु० क० वा० सं० १४, २३ ।
४—ऐ० ब्रा० ८, ५; ता० म० ब्रा० ४, १०, ५ ।
५—० ब्रा० ८, ४, १, १९ ।
६—श० ब्रा० ८, ४, १, २२, तु० क० १४, २३ ।
७—श० ब्रा० ८, ४, १, २५ ।
८—श० ब्रा० ८, ४, १, २५ ।
९—अ० वे० ९, ९, ११ तु० क० सायण भाष्य ।
१०—अ० वे० ९, ९, १२ तु० क० ऋ० वे० १, १६४ ।
११—अ० वे० ९, ९, १३ । १२—वही ।
१३—वही । १४—ऊ० उ० ।

(ग) सम्वत्सर की वाक्—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सम्वत्सर से उत्पन्न होने वाली वाक् उसकी प्रतिमा या पत्नी है जिसके द्वारा वह सारे विश्व का सृजन करता है। वह उसकी शक्ति होने के कारण कभी-कभी स्वयं संवत्सर के समान भी कही जाती है।[1] संवत्सर की प्रतिमा का एक नाम रात्रि भी है।[2] वह उसकी कल्याणी प्रतिमा या पत्नी कही जाती है, जिसकी पूजा और अर्चना भी की जाती है। सम्वत्सर को अहोरात्र भी कहा है, क्योंकि सारे सम्वत्सर में अहोरात्र ही तो होते हैं (**एतावान् वै संवत्सरो यद् अहोरात्रे**[3]), अहोरात्र में प्रत्येक को ब्रह्मा या संवत्सर का दिन कहा जाता है।[4] अहोरात्र में प्रत्येक को पृथक-पृथक लेने से अहन् को आत्मा और रात्रि को उसकी वाक् शक्ति या पत्नी माना जाता है।[5] अहन् पक्ष को जब सूर्य नाम दिया गया, तो रात्रि पक्ष को उसकी पत्नी मानना स्वाभाविक ही था। इसी रात्रि का नाम एकाष्टका या उषा भी है।[6]

(घ) सम्वत्सर की सृष्टि—संवत्सर की सृष्टि का एक वर्णन तो ऊपर हो चुका है, जिसके अनुसार वह मिथुनत्व प्रक्रिया के द्वारा वाक् से सारी सृष्टि करता है। इसी को यज्ञ के रूपक द्वारा भी वर्णन किया जाता है,[7] जो विराज से उत्पन्न होता है और जिसकी सृष्टि भी काल के अन्तर्गत ही होती है।[8] अतः

१—वाक् सम्वत्सरः (ता० म० ब्रा० १०, १२, ७ तु० क० ६, ४, २, १०।

२—यां देवा प्रतिवन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी मा नो अस्तु सुमंगली।
सम्वत्सरस्य प्रतिमां या त्वां रात्र्युपास्महे। अ० वे० ३, १०, ३-४।

३—कौ० ब्रा० १७, ५।

४—एकं वा एतद्देवानां अहः सम्वत्सर (तै० ब्रा० ३, ९, २२, १ तु० क० तां० म० ब्रा० ९, १, २३, २४; ९, १, २५-२८)

५—तै० ब्रा० ३, ९, १४, ३ तु० क० ता० म० ब्रा० ९, १, २३, २४; ९, १, २५-२६।

६—एषा वै. सम्वत्सरस्य पत्नी यथेवाष्टका (ता० म० ब्रा० ५, ९, २; अ० वे० ३, १०, २ मं० ब्रा० २, २. १६; २, २, १८)

७—श० ब्रा० १२, २, ४, १; गो० ब्रा० १, ५, ३५।

८—वही।

सम्वत्सर के नाम को यज्ञ का प्रजापति,[1] होता[2] और पाँच-ऋतु भी कहा जाता है। इन्हीं पांच ऋतुओं को सम्भवतः आधार बनाकर प्रजापति को पंच होता या पंचाहुति कहा जाता है।[3] सम्वत्सर-सृष्टि के वर्णन का प्रधान ढंग वही है, जिसको हमने व्युष्टि-प्रक्रिया नाम दिया है। उसके अनुसार सम्वत्सर के पांच धामों की व्यूष्टियाँ होती हैं, जिनमें सब से पहली व्युष्टि रात्रि है।[4] निम्नलिखित रात्रि-सूक्त[5] में संवत्सर की इस पत्नी का स्वरूप स्पष्ट रूप से दिया गया है।

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवत् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥१॥
यां देवाः प्रति नन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम् ।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमंगली ॥२॥
संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥३॥
इयमेन सा या प्रथमा व्योच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्बधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृणवन्तः परिवत्सरीणाम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयंस्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥
इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जात्वेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयिरंतिरस्तु ॥६॥
आमायुष्टे च पोषे च रात्रिर्देवानां सुमतौस्याम ।
पूर्णादेव परा यत् सुपूर्णा पुनरायत ।
सर्वान्यज्ञान्त्सं मुञ्जतीषमूर्जं न आभर ॥७॥
आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥८॥
ऋतून् यज ऋतुपनोनार्तवानुत हायनान्
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

१—श० ब्रा० १, २, ५, १२; २, २, २, ४; ११, १, १; ११, २, ७ आदि।
२—गो० ब्रा० २, ६, ६; कौ० ब्रा० २९, ८।
३—तै० ब्रा० २, २, ३, ६ श० ब्रा० ३, १, ४, ५ आदि।
४—अ० वे० ८, ९, १०; १५; १६-२६।
५—अ० वे० ३, १०।

> ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्योः माद्भ्वः संवत्सरेभ्यः ।
> धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजः ॥१०॥
> गृहानलुभ्यतो वयं स विशेमोप गोमतः ॥११॥
> इडया जुह्वतो वयं देवात् धृतवता यजे ।
> एकाष्टकातपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
> तेन देवा व्यसहन्त शत्रून हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥
> इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापते ।
> कामनस्माकं पूरय प्रति गृह्णसि नो हविः ॥१३॥

इस सूक्त से निम्नलिखित प्रधान निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) रात्रि की व्युष्टि सब से पहले हुई ।
(२) व्युष्टि के पश्चात् वह यम के लिये धेनु बन गई ।
(३) रात्रि ही संवत्सर की प्रतिमा है, जो सारी प्रजा की सृष्टि करती है ।
(४) रात्रि ही एकाष्टका है, जो तप के द्वारा इन्द्र को उत्पन्न करती है ।
(५) शचीपति इन्द्र के द्वारा ही देवों के शत्रु-दस्युओं का हनन होता है ।
(६) यह रात्रि प्रजापति की पुत्री है और इन्द्र तथा सोम दोनों की माता है ।
(७) यही वह उषा है, जो व्युष्टि के पश्चात् अन्य तीन उषाओं में प्रविष्ट हो जाती है ।

जैसा कि पूर्व-प्रकरण में बतलाया जा चुका है, यह प्रजापति की पुत्री या रात्रि या उषा जो इन्द्र तथा सोम को उत्पन्न करके वृत्र आदि असुरों का हनन कराती हैं और नाना-रूपात्मक जगत की सृष्टि करती है, वह विज्ञानमय पुरुष की शक्ति ही है; जो मनोमय पुरुष की शक्ति रूप में व्यक्त होकर अनेक नाम-रूप-मयी सृष्टि करती है । अब प्रश्न यह होता है कि अन्य तीन उषाएँ कौनसी हैं, जिनमें कि यह पहली उषा रात्रि प्रविष्ट हो जाती है । अथर्ववेद ८,९,१३; १४ में भी इसी प्रकार की चार उषाओं का वर्णन है:—

> ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्यणोघर्मा अनुरेत आगुः ।
> प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥१४॥
> अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
> गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥१५॥

यहाँ ऋत के पंथ पर आने वाली जिन तीन उषाओं का वर्णन किया गया है, उनमें से पहली का सम्बन्ध प्रजा से है, दूसरी का ऊर्ज से और तीसरी का

राष्ट्र से है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह तीन उषाएँ उसी मूल उषा-रात्रि के क्रमशः सृष्टि, पालन तथा संहार पक्ष को प्रगट करती है—एक पक्ष में वह नामरूपात्मक प्रजा की सृष्टि करती है ; दूसरे में उनके पोषण के लिये ऊर्ज उत्पन्न करती है। और तीसरे में देवयुओं (देवयूनां) के राष्ट्र की रक्षिका होने के कारण मर्त्यलोक का संहार भी करती है। इन तीनों उषाओं में अग्नि सोमात्मक होकर व्याप्त रहने वाला उसी रात्रि का एक चौथा पक्ष और है, जिसको ही चौथी उषा कहा गया है। इन चारों उषाओं की तुलना हम उक्त चार बृहतों की वाक् से कर सकते हैं, जिनमें से भी तीन वृहतों की वाक् को मिलाने वाला चौथा बृहत् कहा गया है ; इन चारों उषाओं का नाम क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुभ, जगती और अनुष्टुभ दिया गया है। वे वास्तव में, जैसा कि पूर्व प्रकरण में कह चुके हैं, मनोमय सृष्टि के अन्तर्गत आने वाली तीन शक्तियाँ तथा चौथी उनमें व्याप्त रहने वाली मूल वाक् का रूप ही है।

३—दोहन-प्रक्रिया

(क) **पंच-धाम और पंच-क्रम**—दोहन-प्रक्रिया के अनुसार विराज को एक गाय माना जाता है, जो सारी नाम-रूपात्मक सृष्टि के लिये दूध देती फिरती है। अतः विराज् के इस पक्ष को कल्याणकारी तथा पोषक पक्ष कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में विराज स्रष्टा भी है, क्योंकि वह, अपने दुग्ध रूप में सभी जीवों के 'पोषण' की भी सृष्टि करती है। इस प्रक्रिया को भी सृष्टि की अन्य प्रक्रियाओं की भाँति रहस्यमयी कहा जाता है।[१] व्युष्टि प्रक्रिया के अनुसार पंचधामों की सृष्टि होती है और विराज धेनु इन पाँचों धामों में एक से दूसरे में उत्क्रमण करती हुई, सभी जीवों के लिये दुग्ध देती फिरती है।[२] अतः विराज धेनु की पंच-व्युष्टियाँ और पंच धामों के साथ-साथ पंच क्रमों और पंच दोहनों का भी उल्लेख मिलता है:—

क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान्,
का अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः।

पंच-दोहन पंच-व्युष्टिओं के अनुसार होते हैं। (पंच-व्युष्टीरनुपंचदोहाः।)

१—अ० वे० ८, ९, १०; १५ आदि।
२—अ० वे० ८, ९, २४।

उन पांचों धामों के जिन जिन निवासियों को वह दूध देती है उनका भी वर्णन मिलता है:—

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना ।
अथा तर्पयच्चतुर्धा देवान् मनुष्यां असुरानुत ऋषीन् ।।

इस मंत्र के अनुसार सबसे पहले वह इन्द्र के लिये दुही जाती है और उसके पश्चात् देवों, मनुष्यों और असुरों तथा ऋषियों के लिए दुही जाती है। एक दूसरे स्थल[1] पर, जिन जीवों के लिए विराज धेनु दुही जाती है वे असुर, पितर, मनुष्य, ऋषि, देव, गन्धर्वाप्सिरस, इतरजन और सर्प कहे गए हैं। इन दोनों सूचियों में वस्तुतः कोई भेद नहीं है, क्योंकि दूसरी सूची के अन्तिम चार केवल देवों के ही विभिन्न वर्ग हैं। अतः वे प्रथम सूची में उल्लिखित देवों के अन्तर्गत ही आ जाते हैं ; प्रथम सूची का इन्द्र देवताओं का राजा है, अतः उसकी गणना देवों में होना आवश्यक ही है। इसी प्रकार पितर वस्तुतः मृत मनुष्य ही हैं। अतः दूसरी सूची में उनका प्रथम उल्लेख है परन्तु प्रथम सूची में वे मनुष्यों में ही सम्मिलित हैं। अतः उक्त दोनों सूचियों के आधार पर पाँचों धामों का वर्णन इस प्रकार हो सकता है:—

(१) इन्द्र-लोक
(२) देव-लोक — देवों, गन्धर्वाप्सिरसों, इतरजनों और सर्पों का लोक
(३) मनुष्य-लोक — (मनुष्यों और पितरों का लोक)
(४) असुर-लोक
(५) ऋषि-लोक

इन पांचों की तुलना पंच व्युष्टियों से की जा सकती है। प्रथम उषा (रात्रि या एकाष्टका) ने इन्द्र को उत्पन्न किया[2]; प्रथम लोक में विराज धेनु का दोहन इन्द्र के लिये ही होता है। एक व्युष्टि में उषा ऊर्ज की सृष्टि करती है;[3] एक दोहन में विराज धेनु देवों को ऊर्ज दुह देती है[4] जिस प्रकार अग्नि सोम को

१—अ० वे० ८, ९, १०।
२—वही १५; उ० उ०। जनान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
३—वही, २४। प्रजामेकां जिन्वत्यूर्जमेका।
४—अ० वे० ८, १०, ४-४ सोदक्रामत् सा देवानागच्छत तां देव सविता अधोक तामूर्जमेवाधोक्।

स्थापित करने वाली एक उषा ऋषियों से सम्बन्ध रखती है[१], उसी प्रकार एक दोहन में विराज धेनु सोमराजा को बछड़ा बना कर और वृहस्पति-आंगिरस अथवा अग्नि को[२] दोग्धा बनाकर ऋषियों के लिए दूध देती है[३]। शेष दो व्युष्टियों में एक राष्ट्र की देवयुओं के राष्ट्र की रक्षा करती है और दूसरी प्रजा से सम्बन्ध रखती है[४], शेष दो दोहनों में भी एक का सम्बन्ध असुरों से है और दूसरे का मनुष्यों और पितरों से है। अब प्रश्न यह होता है कि एक ओर देवयू और प्रजा और दूसरी ओर असुर, पितरों और मनुष्यों की तुलना कैसी हो सकती है। 'देवयू' शब्द का अर्थ प्रायः 'देवों को चाहने वाले' किया जाता है। परन्तु 'यू' धातु का अर्थ मिश्रण और अमिश्रण दोनों हैं, अतः देवयू से अभिप्राय देवों में मिलने वाले पितरों तथा उनसे न मिलने वाले असुरों से है। इस प्रकार जो उषा देवयुओं के राष्ट्र की रक्षा करने वाली कही जाती है, वह देवों के शत्रु असुरों तथा उनके मित्र पितरों से सम्बन्ध रखती है। यद्यपि असुरों और पितरों का यह साथ स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर इन दोनों को समस्थानीय कहा गया है। (तै० ब्रा० १,६,८,५; सा० वि० ब्रा०,३,१; कौ० ब्रा० ५,७; गो० ब्रा० २, १,२५; जै० उ० ब्रा० २,७,२ श० ब्रा० १३,८,५,१) अन्तिम व्युष्टि जो कि प्रजा[५] की रक्षा करती है; उसकी तुलना स्वभावतः ही मनुष्य लोक के साथ होगी क्योंकि इस प्रकार के स्थलों में मनुष्यों को निश्चित रूप से प्रजा कहा गया है। इसलिये पंच धामों तथा उसके अनुसार होने वाली पंच व्युष्टिओं का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार हो सकता है।

१—अ० वे० ५, १०, १, श० ब्रा० २, ६, १, ४; १, ६, ९, ५; १, ६, ९, ६; १, ६, ८ ३ २ ३ ३ ६; ४; श० ब्रा० १ ८ १ ४०; २ ६ १ १०-११; १३, ९, १, ५ आदि; तै० ब्रा० १, ६, ८, २। तु० क० **अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः** (अ० वे० ९, १०)

२—दे० ऊपर 'वृहस्पति, तु० का० Macdonell V M, P

३—**सोदक्रामत सा सप्तऋषीनागच्छत:....तस्या सोमोवत्स आसीच्छन्द पात्रम्। तां वृहस्पतिरांगिराधोक** (वही)

४—**प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति** (**देवयूनाम्**)

५—उ० उ०।

व्युष्टि	धाम
(१) रात्रि या एकाष्टका।	(१) इन्द्र का धाम।
(२) ऊर्ज को उत्पन्न करनेवाली उषा।	(२) देवों का धाम।
(३) प्रजा से संबंध रखनेवाली उषा	(३) मनुष्यों का धाम
(४) देवयु-राष्ट्र की रक्षिका उषा।	(४) असुरों और पितरों का धाम।
(५) ऋषियों से संबन्ध रखनेवाली उषा	(५) ऋषियों का धाम।

अर्क की बृहत् सृष्टि की तुलना भी व्युष्टिओं से की जा सकती है। सूर्य-पत्नी या संवत्सर की प्रतिमा रात्रि की तुलना ब्रह्म की पत्नी बृहती से की जा सकती है और अन्य चार उषाएँ जिनका सम्बन्ध देवों, पितरों, असुरों, और मनुष्यों के धामों से हैं, क्रमशः तीन बृहतों (द्यु, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी के बृहतों) की वाकों से संबंध रखती है और उनको मिलाने वाली चतुर्थ वाक् वही सूर्य-पत्नी या रात्रि है, जिसको बृहती भी कहा गया है।[1]

(ख) दोहन का विवरण—इन पंच धामों की कल्पना पंच व्युष्टिओं के अनुसार की गई है, परन्तु दोहन-प्रक्रिया के अनुसार इसके कई और भी भेद हो सकते हैं। अतः दोहन-प्रक्रिया में कभी पाँच और कभी आठ धामों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद ८,१०,४,५, में विराज धेनु के दोहन का विवरण विभिन्न धामों में इस प्रकार दिया गया है:—

असुर-धाम का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह असुरों के पास आई। असुरों ने उससे कहा-'माया ! यहाँ आओ'।"

प्रह्लाद विरोचन का पुत्र उसका वत्स था और आयस-पात्र बर्तन था। द्विमूर्धात्व्य ने उसको दुहा ; उसने सचमुच उसमें से माया का ही दोहन किया। असुर लोग माया पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

पितृ-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह पितरों के पास आई ; पितरों ने कहा—"स्वधा, यहाँ आओ।' राजा यम उसका वत्स था ; रजत-पात्र बर्तन था। अन्तक मार्त्व्य ने उसका दोहन किया ; उसने सचमुच उसमें से स्वधा ही दुहा। पितर लोग सचमुच स्वधा द्वारा ही अपना जीवन-यापन करते हैं।"

१—दे०, 'बृहती' ऊपर।

मनुष्य-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह मनुष्यों के पास आई। मनुष्यों ने कहा—हे इरावती, यहाँ आओ। मनुवैवस्वत उसका वत्स था और पृथ्वी पात्र था। पृथिवैन्य ने उसको दुहा; उसने सचमुच उसमें से कृषि और शस्यका ही दोहन किया। वे मनुष्य कृषि और शस्य पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं।"

ऋषि-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह सप्त ऋषियों के पास आई; सप्त ऋषियों ने कहा—"हे ब्रह्मणवती, यहाँ आओ।"

राजा सोम उसका वत्स था ; और छन्द पात्र था। बृहस्पति अंगिरस ने उसका दोहन किया ; उसने सचमुच उसमें से ब्रह्म और तप ही का दोहन किया। वे सप्तऋषि उस ब्रह्म और तप ही पर जीवन निर्वाह करते हैं।

देव-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह देवों के पास आई देवों ने कहा—"हे ऊर्ज ! यहाँ आओ।" इन्द्र उसका वत्स था और चमस पात्र था।

सविता देव ने उसका दोहन किया ; उसने सचमुच उसमें से ऊर्ज दुहा ; देव लोग सचमुच ऊर्ज पर ही जीते हैं।

गन्धर्वाप्सरसों के लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया, वह गन्धर्वाप्सिरों के पास आई। गन्र्वाप्सिरसों ने कहा—

"हे पुण्यगन्धे, यहाँ आओ।"

चित्ररथ सौर्पवर्चस उसका वत्स था और पुष्कर-पर्ण पात्र था वसुरुचि सौर्य-वर्चस ने उसको दुहा ; उसने सचमुच उसमें से पुण्य-गन्ध दुहा। गन्धर्वाप्सिरस सचमुच पुण्यगन्ध पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं।"

इतर-जन-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह इतरजनों के पास आई। इतरजनों ने कहा—हे विरोध यहाँ आओ।

कुबेर वैश्रवण उसका वत्स था और आम-पात्र बर्तन था। रजतनाभि

कौबेरक ने उसको दुहा ; उसने सचमुच उसमें से विरोध ही दुहा; इतरजन सचमुच ही विरोध पर अपना जीवन-यापन करते हैं ।"

सर्प-लोक का दोहन

"उस (विराज धेनु) ने उत्क्रमण किया ; वह सर्पों के पास आई; सर्पों ने कहा—

"हे विषवती ! यहाँ आओ ।"

तक्षक वैषालेय उसका वत्स था ; और अलानुपात्र बर्तन था । धृतराष्ट्र ऐरावत ने उसका दोहन किया ; उसने सचमुच उसमें से विष ही दुहा ।

सर्प सचमुच ही विष पर जीवन यापन करते हैं ।"

दोहन-प्रक्रिया के इस वर्णन से यह प्रक्रिया विराज का पालनकर्म लगती है, जिसके द्वारा सब जीवों का 'उपजीवन' होता है ; इस दृष्टिकोण से सारी सृष्टि को आठ वर्गों में बाँटा गया है, जिसमें से प्रत्येक वर्ग के जीवन-निर्वाह का आधार, माया, ऊर्ज कृषि आदि भिन्न भिन्न हैं, जो विराज धेनु से प्राप्त होते हैं । इस गाय से इन वस्तुओं की प्राप्ति एक वत्स और एक दोग्धा के द्वारा होती है। जो गाय विभिन्न लोक को भिन्न-भिन्न प्रकार का भोजन देती है, वह यही विराज गाय है, जो इच्छानुसार रूपों को धारण कर लेती है, और विभिन्न लोक के जीव, जिस जिस भावना से उसको देखते हैं, वह उनको वैसी ही प्रतीत होती है और उसके अनुसार ही भोजन दुह देती है । यह विराज वाक् का यह कल्याणमय पक्ष ही कामधेनु गाय का आधार प्रतीत होता है, जो सबको अभीष्ट फल देने वाली कही जाती है :—

एवमुक्ता वशिष्ठेन शबला शत्रुसूदन ।
विदधैकामधुक्कामान्यस्य यस्येप्सितं यथा ॥

(रामायण, १, ५३, १)

इस उद्धरण में उल्लिखित कामधुक् शबला को अनेक बार विराज् या वाक भी कहा गया है ।[१] विराजधेनु भी कामधेनु है और उससे जो कामना की जाती है वह पूरी करती है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धहरणों से प्रकट है:—

१—**वाग्वै शवली तस्याविराजा वा एतां प्रदापयति । तद्य एवं वेद तस्मा एषाऽप्रयत्ता दुग्धे, तां० ब्रा० २१, ३, १-२ तु० क० श० ब्रा० ३, ५, १, ३४; २०, १, ५, तु० क० सायण, २१, ३, १-२**

(१) एषा वै स्तनवती विराड्‌ यंकामंकामयते तामेतां दुग्धे ।

(ता० म० ब्रा० २०, १, ५)

(२) तस्या कामधुग्धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।

उक्ता कामान्प्रयच्छेति सा कामान्दुह्यते सदा ॥

(म० भा० १, १७, ९)

विराज धेनु को अदिति, विश्वरूपी, कामदुधा या कामधेनु आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है ।[1]

४–कल्प-प्रक्रिया

ऊपर व्युष्टि-प्रक्रिया की पाँच अवस्थाओं की तुलना बृहत-सृष्टि की पांच अवस्थाओं के साथ हो चुकी है ; उसको दूसरे शब्दों में निम्नलिखित ढंग से रखा जा सकता है :—

बृहत्	व्युष्टि
(१) बृहती और ब्रह्म	(१) रात्रि तथा सूर्य या संवत्सर ।
(२) आदित्य	(२) आदित्य के द्यु लोक में रहने वाले देवों से संबंध रखने वाली उषा ।
(३) वात या वायु	(३) वात या वायु के अन्तरिक्ष लोक में रहने वाले पितरों या असुरों से सम्बन्ध रखने वाली उषा ।
(४) अग्नि या प्राण	(४) अग्नि या प्राण के भू लोक में रहने वाले मनुष्यों में रहने व।ले मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली उषा ।
(५) महा अग्नि या प्राण जो आदित्य वायु और अग्नि रूप में विभक्त होकर उन तीनों की वाक् को मिलाता है ।	(५) अग्नि और सोम को विभिन्न रूपों में स्थापित करने वाली उषा ।

कल्प-प्रक्रिया का संबन्ध उक्त सूची की पाँचवीं उषा से है । कहा जाता है

१—तै० ब्रा० १, ७, ६, ७; अ० वे० ४, ३४, ६; ९, ५, १०; म० भा० १, १०२, ९-१०,

कि ऋषियों ने अग्नि-सोम को स्वर धारण करने वाली वृहद् अर्की तथा गायत्री, त्रिष्टुभ, जगती और अनुष्टुभ में स्थापित (कल्पयन्तः) किया :—

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषय कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं वृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ।।

अ० वे० ८, १०, १४)

यही पद्य अन्य स्थलों पर आता है और कहीं-कहीं पर बृहद-अर्की के स्थान पर बृहद-अर्क[१] अथवा केवल अर्क भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह बृहद अर्की या अर्क उक्त सृष्टि के प्रसंग में आये हुये बृहद-अर्क अथवा बृहती-ब्रह्म के समकक्ष है ; जगती, त्रिष्टुभ और गायत्री क्रमशः आदित्य, वायु और अग्नि के वाकों के समकक्ष पहले बतलाये ही जा चुके हैं[२] । अतः इस मंत्र में उल्लिखित अनुष्टुभ ही उस चतुर्थ बृहत् के समकक्ष हैं जो शेष तीन बृहतों की वाक् को मिलाने वाला कहा गया है ।

कल्प-प्रक्रिया के अन्तर्गत बृहत-सृष्टि तथा व्युष्टि-प्रक्रिया के सदृश ही एक अन्य प्रणाली का वर्णन भी मिलता है । कल्प-प्रक्रिया की पाँच अवस्थाएँ तथा अवान्तर अवस्थाओं से मिलकर एक कल्प बनता है और यही एक कल्प विभिन्न अवस्थाओं में विभाजित होकर अनेक कल्पों के रूप में बदल जाता है, जिनको प्राण कहा जाता है (**प्राणः वै कल्पाः**) प्रमुख कल्प जिसमें से अनेक कल्पों की सृष्टि होती है यथार्थ में अग्नि-सोम है, जो ब्रह्म और वाक् का संयुक्त तत्त्व है ।[३] इससे प्रतीत होता है कि कल्प-प्रक्रिया के अन्तर्गत प्राणमय कोश का वह सारा जाल आता है , जो ब्रह्म-वाक् तत्त्व से निर्मित हुआ सर्वत्र व्याप्त है । ये कल्प एक ओर तो बृहतों से भिन्न है, जिनको शुद्ध-सृष्टि कहा गया है और दूसरी ओर ये उषाओं से भिन्न हैं, जिनको अशुद्ध सृष्टि नाम दिया गया है ।

इस प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि उक्त कल्पों में वृहदर्की नामक कल्प को स्वर-युक्त बतलाया गया है । स्वर को स्पष्टतः साम का 'स्वम्' कहा गया है और साम, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, माया शबल प्रकृति-पुरुष की

१—तै० सं० ४, ३, ११ ।
२—मै० सं० २, १३, १० ।
३—श० ब्रा० ९, ३, ३, १२ ।

सृष्टि है।[1] अतः स्वर अन्तिम अवस्था में आत्मा या इन्द्र कहलाता है[2] जिसका अभिप्राय सम्भवतः यह है कि ब्रह्म और वाक् का द्वैतभाव अन्त में शक्तिमान् ब्रह्म के रूप में ही रह जाता है। पिण्डाण्ड के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि स्वर वास्तव में आत्मा या ब्रह्म का ही नाम है, जिससे उत्पन्न होकर वाक् विभिन्न अवस्थाओं में सृष्टि करती है बृहदारण्यक उपनिषद में स्वर की जो विभिन्न अवस्थायें बतलाई गई हैं, उनके नाम वही हैं जो विभिन्न कल्पों के नाम हैं:—

स्वर	कल्प
(१) स्वर आत्मा या जाया।	(१) स्वर युक्त बृहदर्की या अर्क अथवा बृहदर्क।
(२) जगती	(२) जगती।
(३) त्रिष्टुभ।	(३) त्रिष्टुभ।
(४) गायत्री	(४) गायत्री।
(५) अनुष्टुभ।	(५) अनुष्टुभ।

इन पाँच अवस्थाओं में से, पहली (स्वर) अवस्था दूसरी, तीसरी तथा चौथी का मूल है, जब कि पाँचवीं स्वर या आत्मा की वाक् है, जो तीनों के अन्तर्गत व्याप्त रहती है।

५—ऋतु-प्रक्रिया

(क) ऋत—कल्प-प्रक्रिया के पश्चात् ऋतु-प्रक्रिया की मीमांसा शेष रह जाती है। विराज की ऋतुओं के विषय में प्रायः आश्चर्य प्रगट किया जाता है और उनकी संख्या एक साथ ही, पाँच, छः, सात, और एक बतलाई जाती है[3]। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ऋतु और ऋत एक ही धातु से निकले हैं और अथर्ववेद में भी ऋतुओं को ऋत संबंधी ही कहा गया है[4]। ऋतु का वर्णन पहिले हो

१—तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वंवेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं (बृ० उ० प० १, ३, २५); देखिए 'साम-सृष्टि', ऊपर।

२—जै० त० ब्रा० ३००-३०६; ३२०-३२१; जहां स्वर को 'आत्मा' जाया और दोनों कहा गया है।

३—ऊपर देखिये "संवत्सर और उसकी प्रतिमा"

४—अ० वे० ८, ९, १०; १५; १६; १८; २६।

चुका है। ऋत, भाव अथवा विकार (Becoming) का नाम है; जिसका जाल सारी सृष्टि में फैला हुआ है ; और जिसके बिना सृष्टि संभव ही नहीं हो सकती।

पिण्डाण्ड में ऋत का सिद्धान्त विज्ञानमय तथा मनोमय के अन्तर्गत आता है और ब्रह्माण्ड में उसका समावेश काल में होता है, क्योंकि कोई भी भाव, या क्रिया विकार काल के बाहर नहीं हो सकता। जिसको भाव (Becoming) या विकार कहा जाता है, वह केवल अनादि काल के अन्तर्गत अनेक गतियों के शृंखला-मात्र है। इसका सब से सुन्दर चित्र अथर्ववेद के काल-सूक्तों में मिलता है, जिनको यहाँ पर उद्धृत कर देना उपयुक्त होगा:—

(अ० वे० १९, ५३)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरि-रेताः ।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥१॥
सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् काल स ईयते प्रथमोनुदेवः ॥२॥
पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यायो बहुधा न सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यंकालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥३॥
स एव सं भुवनान्यभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत ।
पिता सन्न भवत् पुत्र एषां तस्माद वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥४॥
कालोमूंदिवमजनयत् काल इमाः पृथिवी रुत ।
कालेहभूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥५॥
काले भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः ।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥६॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥
काले तपः, काले ज्येष्ठः, काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत प्रजापतेः ॥८॥
तेनैषितं तेन जातं तदु तास्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥९॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्ने प्रजापतिम् ।
स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालात् प्रजायते ॥१०॥

(अ० वे० ५४)

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः ॥१॥
कालेन वातः पवते काल पृथिवी मही ।
द्यौर्मही काल आहिता ॥२॥
कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत पुरा ।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥३॥
कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥४॥
कालेयमंगिरा देवोऽथर्वा जाधि-तिष्ठितः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्याञ्च लोकान् विधृतीञ्चपुण्याः
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमोनुदेवः ॥५॥

इन दोनों सूक्तों में काल का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है; काल मूर्तिमान ऋत (Becoming) है। इस विषय में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं:—

(१) काल एक अश्व है जिसकी सात लगामें हैं (५३,१-२) वह सभी लोकों (५५,४-७) ऋक्, यजु, सारे भूत और भविष्य का स्रष्टा और पालक है और संवत्सर से सादृश्य रखता है, क्योंकि संवत्सर की सृष्टि भी काल के अन्तर्गत है और काल में भी संवत्सर की भांति सात ऋतुएँ बतलाई जाती हैं।

(२) जो काल प्रजापति, सारे भुवनों का स्वामी स्वयम्भू कश्यप का जनक तथा प्रथम देव कहा गया है और जिसके अन्तर्गत ज्येष्ठ, ब्रह्म, सत तथा परमेष्ठी आदि आ जाते हैं और जो सारे देवों तथा पुण्य-लोक-सहित सारे भुवनों पर आधिपत्य रखता है, वह परम व्योम का अजर काल सम्वत्सर से भिन्न है, क्योंकि कश्यप[1], परमेष्ठी आदि निश्चय ही संवत्सर की व्युष्टि-प्रक्रिया से परे हैं। इन सूक्तों का सप्तचक्र और सहस्राक्ष का ऋग्वेद १,१६४,१२-१५ में वर्णित सप्त-चक्र, तथा अजर-चक्र के समान है जो पंच-पाद, द्वादश-आकृति पुरीषी[2] ऊपर बतलाया गया है। अतः स्पष्टतया वैदिक दर्शन में दो काल-चक्र हैं, जिनमें से एक दूसरे के अन्तर्गत हैं ; एक सप्तचक्र काल के अन्तर्गत द्यौ के चारों ओर

१—अ० वे० ८, ९, ३, ७।
२—अ० वे० ८, ९, ९, १२, ऋ० वे० १, १६४

घूमने वाला द्वादश-चक्र है, जबकि दूसरा पंचार अथवा द्वादशार चक्र भुवनों में चक्कर लगाने वाला कहा गया है।[१] इनमें से दूसरा काल चक्र संवत्सर के समकक्ष है, क्योंकि संवत्सर भी पंच-पाद और द्वादशाकृति[२] कहा गया है। संवत्सर से परे एक दूसरे काल-चक्र का अनुमान इस बात से भी लगाया जाता है कि संवत्सर को केवल देवताओं का एक दिन ही कहा गया है।[३] इसलिये ऋतु और काल की संवत्सर तथा अति-संवत्सर दो अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। इस बात की पुष्टि ऋग्वेद १०,१९० के सृष्टि-वर्णन से भी होती है :—

> **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।**
> **ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥**
> **समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।**
> **अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥**
> **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत ।**
> **दिवं च पृथिवीं चाऽन्तारिक्षमथो स्वः ॥३॥**

इससे पता चलता है कि ऋत और सत्य के उत्पन्न होने के पश्चात् रात्रि का जन्म हुआ और फिर रात्रि से समुद्र-अर्णव, समुद्र-अर्णव से संवत्सर और संवत्सर से अहोरात्र, सूर्य, चन्द्र, आकाश पृथ्वी और अन्तरिक्ष उत्पन्न हुए। हम देख चुके हैं कि रात्रि और समुद्र 'विज्ञान-मय' के अन्तर्गत आते हैं, अतः स्वभावतः ही संवत्सर तथा उससे उत्पन्न सृष्टि 'मनोमय' एवं उससे उद्भूत भुवनों के अन्तर्गत आयेगी। परन्तु, जैसा कि पिण्डाण्ड के प्रसंग में कह चुके हैं, इन दोनों को उत्पन्न करने वाला ऋतु सम्वत्सर से पूर्व की सृष्टि में और स्वयं संवत्सर की सृष्टि में भी विद्यमान रहता है और उसी के कारण सारी क्रियाएँ, परिवर्तन तथा विकार होते हैं।

(ख) **ऋत और ऋतु**—उपर्युक्त वर्णन से प्रगट है कि ऋत ब्रह्माण्ड में काल-चक्र के समक्ष है। अतः ऋत से संबन्ध रखने वाली ऋतुएँ ऋत अथवा काल-शक्ति की विभिन्न अवस्थाओं के ही भिन्न भिन्न नाम हैं और उनकी संख्याओं की कल्पना ऋत-द्वारा होने वाले प्रकृति-विकारों के अनुसार विभिन्न अवस्थाओं

१—अ० वे० ९, ९, ११-१२; ऋ० वे० १, १६४

२—ऊ० उ०।

३—एकं० वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः (तै० ब्रा० ३, ९, २२, १) सद्यो वै देवानां संवत्सरः (ता० म० ब्रा० १६, ६, ११)

में भिन्न-भिन्न की जाती हैं। ऋत द्वारा होने वाले ये विकार जगत के अति-संवत्सर और संवत्सर दोनों अवस्थओं से संबंध रखते हैं। विराज का क्रिया-क्षेत्र संवत्सर के नाना-रूपात्मक जगत तक ही सीमित है। अतः विराज धेनु की केवल पाँच ऋतुएँ[1] बतलाई गई हैं, जब कि प्रथम ऋत की, उक्त काल के समान ही सात ऋतुएँ बतलाई गई हैं।

(ग) वैराजिक सृष्टि पर सिंहावलोकन—विराज धेनु की सृष्टि का वर्णन उसकी पाँच प्रक्रियाओं के उल्लेख से किया गया। यह पाँच प्रक्रियाएँ मिथुनत्व, व्यष्टि, दोहन, कल्प तथा ऋतु हैं, जिनका वर्णन पृथक पृथक किया जा चुका है। इस प्रसंग में यह देखा गया कि एक अति-वैराजिक तत्व ऋत या काल है, जो वैराजिक सृष्टि के परे होते हुये भी उसमें व्याप्त है। यह वास्तव में एक क्रिया या भाव (Becoming) है, जो नाना विकारों अथवा परिवर्तनों का मूल कारण है और सम्भवतः उसकी उत्पत्ति वाक् के विक्षोभ के कारण होती है। क्षुब्ध वाक् प्रकृति ही सलिल है, जो शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार की सृष्टियों के रूप में विकसित होता है। सलिल में से विराजधेनु के दो वत्स ब्रह्म और बृहती उत्पन्न होते हैं; इन दोनों से आदित्य, वायु और अग्नि तथा इन तीनों की वाक् को मिलाने वाले अग्नि के रूप में चार बृहत् उत्पन्न होते हैं। यह ही शुद्ध प्राकृतिक सृष्टि है जिसको ब्रह्म-सृष्टि, बृहत्-सृष्टि या अर्क-सृष्टि कहा जाता है और जो मिथुनत्व-प्रक्रिया के अन्तर्गत आती है। अशुद्ध या कनीयस प्राकृतिक सृष्टि की उत्पत्ति संवत्सर तथा रात्रि या एकाण्टका नामक उसकी वाक् से होती है। यह व्युष्टि-प्रक्रिया का विषय है और इसका पूर्व-रूप शुद्ध प्राकृतिक सृष्टि है। व्युष्टि-प्रक्रिया की पाँच व्युष्टियों के अनुसार जगत में पाँच धातु हैं, जिनमें क्रमशः इन्द्र, देव, पितर, असुर और मनुष्य निवास करते है। अन्तिम व्युष्टि को अग्नि-सोम को सर्वत्र स्थापित करने वाला तथा तीन बृहतों की वाक् को मिलाने वाला कहा गया है। अग्नि-सोम पुरुष-प्रकृति-तत्त्व है, जो चार भागों में विभक्त होता है और वह इनमें से तीन द्वारा क्रमशः तीन लोकों में व्याप्त रहता है और चौथे द्वारा इन तीनों को संयुक्त करता है। यह पुरुष-प्रकृति तत्व ही कल्प-प्रक्रिया का विषय है, जिसके अनुसार पुरुष-प्रकृति-तत्व को ऋषियों द्वारा पांच धाम में स्थापित किया जाता है जिनका नाम इस प्रक्रिया के अनुसार गायत्री, त्रिष्टुभ,

---

१—पञ्च व्युष्टीरनुपञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च।

(अ० वे० ८, ९, १५)

जगती, अनुष्टुभ और बृहदर्की है। इन सभी प्रकार की प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न प्रजाओं के पोषण का वर्णन दोहन-प्रक्रिया के अन्तर्गत हुआ है ; इस प्रसंग में हम देख चुके हैं कि प्रत्येक लोक के निवासी विराज धेनु से अपने अभीष्ट पदार्थ का दोहन कर लेते हैं। ऋतु-प्रक्रिया के अन्तर्गत वे सभी विकार आते हैं, जो ऋत के कारण उत्पन्न होकर सारी प्राकृतिक सृष्टि की रचना करके उसे सात स्तरों में केन्द्रीभूत करते हैं। इन सातों को सप्त ऋतु कहा गया है, जिनमें से पाँच वैराजिक सृष्टि के भीतर आते हैं और शेष दो अति-वैराजिक के अन्तर्गत।

इन क्रियाओं के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि विराज के पांच रूप हैं, जैसा कि अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है:—

पंचव्युष्टीरनु पंच दोहा गां पंचनाम्नीमृतवोनु पंच।

परन्तु सृष्टि-प्रक्रिया के पूर्ण विश्लेषण से प्रगट है कि इस विभिन्नता में भी एकता है। अन्ततोगत्वा, एक गाय, एक ऋषि, एक धाम, एक यक्ष, और एक ही ऋतु है, जो कि नाना रूपों में व्यक्त हो रही हैं और उसके बाहर कुछ नहीं है:—

एको गोरेक एक ऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नातिरिच्यते ॥

(अ० वे० ८, ९, २६)

शब्दानुक्रमणिका

ब

भ

म

ह